योगामृत

मुनि बालचन्द्र कृत

भाग–1

• संपादक •

उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

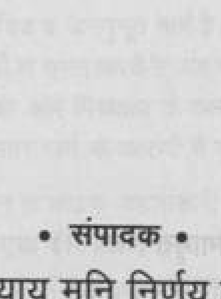

प्रस्तुतिः निर्ग्रंथ ग्रन्थमाला

संस्करण : प्रथम – 1500 प्रतियाँ, सन् 2003
I.S.B.N. No. : 81-878280-84
@ **सर्वाधिकार सुरक्षित :** प्रकाशकाधीन

योगामृत (भाग–1)

मुनि बालचन्द्र कृत

पावन आशीष: परम पूज्य राष्ट्रसंत आचार्य श्री 108 विद्यानन्द जी महाराज

सम्पादक: उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

सहयोगी: ऐलक श्री 105 विमुक्त सागर जी

क्षुल्लक श्री 105 विशक सागर जी

क्षुल्लक श्री 105 नित्यानंद जी

प्रकाशक: निर्ग्रंथ ग्रन्थमाला

e-mail : nirgranthmala@rediffmail.com

मूल्य : स्वाध्याय (लागत मूल्य 30.00)

ग्रंथ प्राप्ति स्थान :

1. चन्द्रा कॉपी हाउस, हॉस्पीटल रोड, आगरा (उ.प्र.)

2. श्री दि० जैन ऋषभदेव मंदिर,
ऋषभपुरी, टूण्डला चौराहा, टूण्डला जिला फ़िरोजाबाद (उ.प्र.)

मुद्रक :

अनिल कुमार जैन

चन्द्रा कॉपी हाउस, हॉस्पीटल रोड, आगरा (उ.प्र.) फोन: 2360195, 2260939

e-mail : chandraagra@yahoo.com

प्राक्कथन

इस अनादि–निधन संसार के सम्पूर्ण अनन्तानन्त जीव केवल दो ही मार्गों के पथिक हैं यद्यपि मार्ग एक ही है, फिर भी मंजिल दो हैं। एक पूर्व की ओर जाने वाले मार्ग में तो दूसरी पश्चिम की ओर जाने वाले मार्ग के अन्त में।

जो पूर्व की ओर मंजिल है उसका नाम है। संसार। उस मंजिल में पहुंचने की भेद व प्रभेद की अपेक्षा अनन्तानन्त भेद हैं। वह मार्ग प्रत्येक प्राणी का परिचित, श्रुत, गम्य एवं अनुभूत मार्ग है। जिस पर हम सभी संसारी जीव अनादि काल से भव पथिक वन कर परिभ्रमण कर रहे हैं। इसमें राग–द्वेष रूपी पैरों से आस्रव व कर्म रूपी पटरियों पर गमन किया जाता है।

दूसरा मार्ग जो अपूर्व/पश्चिम दिशा की ओर जाने वाला मार्ग/मोक्ष मार्ग है, वह अनश्रुत, अदृष्ट, अगम्य, अपरिचित व अननुभूत मार्ग है। इस मार्ग में आसन्न भव्य ही वैराग्य व संयम या ज्ञान–ध्यान रूपी पैरों से गमन करते है, यह मार्ग संवर व निर्जरा पर भी आधारित है। किन्तु आज तक इस मार्ग की ओर मिथ्यात्व के कारण पीठ किये रहे, तथा मिथ्यादर्शन, अज्ञान व असंयम के कारण संसार मार्ग के कारणों में संलग्न रहे।

मिथ्या दर्शन व अज्ञान के कारण–यह संसारी जीव पंचेद्रिय के विषयों को ही सच्चा सुख मान बैठा है, किन्तु इन्द्रिय सुख कभी सच्चा सुख नही हो सकता। क्योंकि सच्चा सुख वही हो सकता है, "जो शाश्वत हो, स्वाधीन हो, आत्मोत्पन्न हो, बाधा रहित एवं अखण्ड हो।" किन्तु इन्द्रिय सम्बन्धी सुख न तो शाश्वत ही है, और न ही आत्मोत्पन्न। वह तो क्षणिक सुखाभास है, तथा पापास्रव का कारण है। दुखों का बीज है, बाधा सहित है, पराधीन है एवं इन्द्रिय सम्बन्धी पदार्थों से उत्पन्न है। जिन पदार्थों से आज सुखाभास की अनुभूति हो रही है, वही पदार्थ कल दुख के हेतु भी हो सकते हैं। यथा–पंखा, कूलर, शीतल पेय पदार्थ आदि वस्तुऐं ग्रीष्म काल में सुख के कारण प्रतिभासित होते है, परन्तु वे ही पंखा, कूलर व शीतल पेय आदि पदार्थ शीत काल में अत्यन्त दुखदायी होते हैं। इसी प्रकार ऊष्ण भोज्य पदार्थ व उष्णता के साधन शीतकाल में सुख के कारण प्रतिभासित होते हैं, किन्तु ग्रीष्म काल के वे ही उष्ण पदार्थ व उष्णता के साधन दुख के कारण प्रतीत होते हैं। पंचेन्द्रिय विषय सम्बन्धी पदार्थों को भोगते समय मिथ्यादृष्टि मानता है कि मैं इन्हे भोग रहा हूँ, किन्तु सम्यग्दृष्टि मानता है कि ये मुझे व मेरे धर्म को भोग रहे हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों में, क्रोधादि कषायों में एवं हिंसादि पापों में ही संलग्न रहते हैं। तथा सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दृष्टि, ज्ञान वैराग्य, संयम, तप त्याग एवं ध्यान साधना मे संलग्न रहता है। जिसके फल स्वरूप मिथ्यादृष्टि जीव नरक, तिर्यंचादि दुर्गतियों में नाना दुख के भोक्ता होते हैं, तथा सम्यक दृष्टि जीव स्वर्गादि के वैभव, मनुष्य गति

में चक्रवर्ती की सम्पत्ति के भोक्ता होकर, तीर्थंकर या सामान्य केवली बनते हैं। तदनन्तर अशेष कर्मों को नष्ट कर परम सिद्ध पद को प्राप्त कर अनन्त काल के लिए अनन्त सुखों के भोक्ता बन जाते हैं।

जैन धर्म व श्रमण संस्कृति आत्म कल्याण कारक व परकल्याण की पावन प्रेरणा दात्री मां के समान है। ये वीतरागता की पोषक, त्याग प्रधान, अहिंसा युक्त आचरण की रीढ़ से सहित, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह के चार सुदृढ़ स्तम्भों पर आधारित है। अनेकान्तात्मक धर्म व स्याद्वाद रूपी कथन पद्धति से समाविष्ट है।

श्रमण संस्कृति में भौतिक सुखों का पूर्णत: त्याग करके ही परमार्थिक सुखों का अन्वेषण किया जाता है। संसार, शरीर व भोगों से पूर्ण विरक्त योगी ही आध्यात्म साधना व आत्म कल्याण में समर्थ हो सकते हैं। जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवार नहीं रख सकते, एक मानव शरीर में दो मनुष्य नहीं रह सकते, छद्‌मस्थ जीव के ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग दोनों उपयोग एक साथ नहीं हो सकते, उसी प्रकार भौतिक सुखों में आसक्त जीव पारमार्थिक सुखों को प्राप्त नहीं कर सकता।

जिस प्रकार गधे को कितना भी नहलाओ वह घोड़ा नहीं हो सकता, कोयला को कितना भी साबुन लगाकर धोओ वह स्वर्ण नहीं हो सकता न ही धवल हो सकता है, कौआ को कितनी भी शक्कर खिलाओ वह मधुर नहीं हो सकता, गिद्ध पक्षी मयूर पंख लगाकर गरूड़ नहीं हो सकता, बगुला मान सरोवर में पहुंच कर भी हंस नही हो सकता, भेड़ का बच्चा गाय का दूध पीकर कामधेनु नहीं हो सकता, चूहा शेरनी का दूध पीकर शेर नहीं हो जाता, उसी प्रकार तत्त्वार्थों की श्रद्धा से रहित गृहस्थ समयसार पढ़कर भी कुन्द–कुन्द नहीं हो जाता और न ही भौतिक सुखों में आसक्त सन्त पारमार्थिक सुखों का भोक्ता हो सकता है। भौतिक सुख तो शहद से लिपटी तलवार को चाटने के समान भयंकर भव दुखों के ही जनक हैं।

पारमार्थिक सुखों का अन्वेषण निजात्मा का समीचीन स्वरूप जाने बिना दुर्लभ ही नहीं असंभव है। आत्मा का समग्र स्वरूप, सर्व गुण, लक्षण, स्वरूप व उनकी पर्यायों का ज्ञान व श्रद्धान किये बिना आध्यात्मिकता को प्राप्त नही किया जा सकता। जिसने अपनी एक निजात्मा को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया, किन्तु जिसने अपनी निजात्मा को नहीं जाना उसने सब कुछ जान कर भी कुछ नहीं जाना।

सुख और दुख बाहर से प्राप्त होने वाले पदार्थ नहीं हैं, यह तो चेतना का ही स्वभाव व विभाव पर्याय/परिणति का फल है, मोहनीय कर्म का जब तक सत्व रहेगा तब तक अनन्त सुख को नहीं पा सकते, तथा मोहनीय कर्म के क्षय होते ही यह जीव तत्क्षण में अनन्त सुखी बन जाता है। मोहनीय कर्म का क्षय बिना रत्नत्रय की साधना के असंभव है। रत्नत्रय व्यवहार नय से मोक्ष का मार्ग है निश्चल नय रत्नत्रय से युक्त आत्मा ही मोक्ष मार्ग है। निश्चय मोक्ष का मार्ग की प्राप्ति व्यवहार मोक्ष मार्ग के बिना असंभव है। श्रमण अवस्था में ही निश्चय मोक्ष मार्ग की प्राप्ति संभव है, अभेद रत्नत्रय की साधना, निर्विकल्प ध्यान, परम समाधि एवं शुद्धोपयोग

की दशा ही निश्चय शिव पथ है। सच्चा श्रमण वही है जो विषय–कषाय, आरंभ, परिग्रह एवं सर्व सावद्य क्रियाओं से रहित हो, ज्ञान, ध्यान, तप में लीन रहे 28 मूल गुण व 34 उत्तर गुण 84 लाख उत्तरोत्तर गुणों का पालक हो। निश्चय से आत्म रूचि करने वाला, निजात्मा को जानने वाला व निज स्वरूप में रमण करने वाला हो।

प्रस्तुत ग्रंथ यथा नाम तथा गुण धारक है, इस ''**योगामृत**'' ग्रंथ में तीनों योगों की विषयानुरागी प्रवृत्ति रूपी विष को धर्मानुराग, व आत्म रूपी अमृत में बदलने की कला बताई है। यह ग्रंथ अध्यात्म विद्या का एक महान ग्रंथ है। परम पूज्य मुनि बाल चन्द्र जी ने इसे कन्नड़ भाषा में रचा है। इसके 99 श्लोक ही उपलब्ध हो सके हैं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि यह ग्रंथ अपूर्ण है।

अन्तिम छन्द ग्रन्थकार की प्रशस्ति व मंगलाचरण परक भी नहीं है। यद्यपि अनेक दिगम्बर संतो व जैनाचार्यों ने ग्रंथ रचना करके अपना नाम कहीं भी नहीं लिखा वे परम वीतरागी हुए। किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि जैन दर्शन के साहित्य की अन्य धर्मानुयायी व मतावलम्बियों ने उन साहित्य में कुछ फेर–बदल कर अपना नाम लिख लिया। वस्तुतः जैन साहित्य की बहुत चोरी हुई।

यद्यपि यह भी नहीं जा सकता कि यह प. पू. निज शुद्धात्म सुखामृत भोगी, मुनिराज श्री बाल चन्द्र जी ही ग्रंथ को अपूर्ण लिख पाये हों, या उसका शेष हिस्सा हमें प्राप्त नहीं हुआ हो उन्होंने पूर्ण ही लिखा हो। इस सम्बन्ध में वर्तमान में कोई विशेष साक्ष्य/प्रमाण उपलब्ध नहीं है। किन्तु इतना अवश्य है कि यह कृति दिगम्बर जैन संत मुनि श्री बाल चन्द्र जी की आत्मानुभुति के अन्तोनुभूति के अन्तोदधि या हृदय गंगोत्री से उद्‌गमित भागीरथी के समान समुज्ज्वल व विश्व कल्याणी है। जो कि भव्य जीवों के पाप पंक का प्रक्षालन करने में पूर्ण समर्थ एवं अलौकिक वरदान स्वरूप है।

ग्रंथ कर्ता पूज्य मुनि श्री बाल चन्द्र जी का यथार्थ एवं विस्तृत परिचय भी अनुपलब्ध है। उन्होंने जन्म लेकर किन माता–पिता को धन्य किया? व किस नगर व प्रांत की वसुन्धरा को अपनी पद रज से पावन किया? किस कुल, जाति व गोत्र को समुज्ज्वल किया? एवं किन गुरु से शिक्षा व दीक्षा लेकर उनके नाम की कीर्ति को दशों दिशाओं में विस्तारित/प्रकाशित किया? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर अभी वर्तमान में अनुपलब्ध हैं जो कि अन्वेषणीय भी हैं?

भारतीय वाङ्मय, जैन दर्शन व उस की श्रमण संस्कृति का सदा ऋणी रहेगा। जिसने कि जैन दर्शन के माध्यम से विश्व कल्याणी अहिंसा जैसी निधि, आध्यात्मिकता जैसी सर्वोत्कृष्ट मणि, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद व अपरिग्रह जैसे सिद्धांत रूपी रत्न तथा वीतरागता जैसी अपूर्व भगवन्ता या सर्व सत्ता प्राप्त करने का मार्ग विश्व के सामने प्रतिपादित किया है। पूज्य मुनि बाल चन्द की बौद्धिक क्षमता भी अपूर्व ही रही होगी जो कि उन्होंने प्रौढ़ कानड़ी लिपि में संस्कृत भाषा के सदाशय व भावार्थों को अपनी रचना में गाम्भीर व औदार्यता के साथ प्रतिपादन किया है।

पू. मुनि श्री बाल चन्द्र जी की भाव भासना, धर्माशय, एवं तात्पर्य को समझना भी हमारे लिये कठिन हो जाता यदि परम पूज्य भारत गौरव, विद्यालंकार, धर्म नेता, संयम शिरोमणि जैनाचार्य श्री देशभूषण जी महाराज यदि इसका हिन्दी अनुवाद नहीं करते तो।

हम विनम्रता पूर्वक प. पू. आध्यात्मिक संत, मुनि बालचन्द्र जी को स्मरण व अभिनन्दन करते हैं, तथा प. पू. भारत गौरव, विद्यालंकार, धर्म नेता, जैनाचार्य श्री देशभूषण जी महाराज के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा उनके युगल चरणों में प्रणाम करते हैं। जिन्होंने हमें यह सरल, सुगम, सुबोधक, धर्मामृत दिया हैं। तथा साथ ही हम परम पूज्य राष्ट्र संत, विश्वधर्म प्रवर्तक, वर्तमान के वर्द्धमान जैनाचार्य श्री विद्यानंद महाराज के श्री चरणों में भी कोटिशः प्रणाम निवेदित करते हैं। जिनके तपो पूर्ण मंगलाशीष से यह कार्य सफल हो सका।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में सहयोगी ऐ. श्री विमुक्त सागर जी, छु. श्री विशंक सागर जी को समाधिरस्तु आशीर्वाद, मुद्रक अनिल कुमार जी चन्द्रा कापी हाउस आगरा को अपने न्यायोपार्जित धन का सद् उपयोग करने वाले को प्रत्यक्ष व परोक्ष रहे समस्त सहयोगियों को धर्म वृद्धि आशीर्वाद।

हमें विश्वास है कि इस ग्रंथ में यत् किंचित् कोई त्रुटि रह गई हो तो विज्ञ संयमी जन सुझाव व संकेत प्रेषित करने का पुरुषार्थ करेंगे। तथा सुधी पाठक गण हंसवत् गुणग्राही दृष्टि बनाकर, इस ग्रंथ को श्रद्धा, भक्ति, विनय व बहुमान के साथ आद्योपांत पढ़ने का सम्यक् पुरुषार्थ करें। यदि इस ग्रंथ का स्वाध्याय करने से आपका एक कदम भी स्व–पर कल्याण व संयम बुद्धि में अग्रसर होता है, तो हृदय लोग पर प्रसन्नता का अनुभव करेंगे।

'इत्यलमति विस्तरेण'

–कश्चिदल्पज्ञ श्रमणः
संयमासक्त जिनचरणानुचर,
ॐ ह्रीं नमः

12/06/2001
दरियागंज, दिल्ली

मुनि श्री बालचन्द्र विरचित

योगामृत

कानड़ी ग्रन्थ

बसुर्धेंद्र व्रातदेवप्रभृतातिविनुतं नित्यस्तुत्यमंत शांतं।
रसगंध स्पर्शवर्ण व्रजनघहर न भवं विश्वतत्वप्रकाशं।।
स्वसहायं निष्कलंकं सुखदं परमचिद्रू पनप्पात्मनं वं।
दिसि भव्यानंद योगामृतद महिमेयं भव्यलोकैक हेतवे॥1॥

इंद्र देवेंद्र, चक्रवर्ती, धरणेंद्र आदि महान् व्यक्तियों के द्वारा पूजनीय, नित्य स्तुत्य, शांत, रस गंध स्पर्श और वर्णादिकों से रहित, भव-रहित, संपूर्ण तत्वों को जानने वाले, सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा, परमपूज्य, जानने आदि में पंचेन्द्रियादि की सहायता से रहित अर्थात् असहाय यानी अपने आप ही अपने को सहायभूत हैं। कर्मरूपी कलंक से रहित शुद्ध परमात्मारूप मोक्ष लक्ष्मी के नायक हैं, सदा सुखामृतमय रस के स्वादी हैं। शांति के सागर और सुखमय हैं। ऐसे शुद्धात्म तत्व को नमस्कार करके अत्यंत विशुद्ध निर्मल दिव्य-ज्योति से युक्त निजानंद परम-पद के धारक तथा सुखामृत को प्रदान करने वाले ऐसे योगामृत की महिमा हैं, मैं उसे भव्य मानव जीवों के लिये कहूँगा॥1॥

विवेचन—इस श्लोक में आचार्य ने शुद्ध निर्मल सिद्ध परमात्मा को नमस्कार किया है। वह सिद्ध परमात्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरणादि आठों कर्मों से रहित हैं और शुद्ध चैतन्य चिच्चमत्कार चिदानंद मूर्ति है, ऐसा शुद्ध परमात्मा हमारे भीतर भी अनादिकाल से निवास करता है। उसको स्वपर-भेद विज्ञान के द्वारा जानकर एकाग्रता से उसका ध्यान करने से वह सिद्ध परमात्मा अपने अन्दर मिलेगा, अन्य जड़ रूप पर द्रव्य में नहीं मिलेगा। ऐसा समझकर

योगियों के लिये उसका ध्यान करना आवश्यक है। ऐसा आचार्य ने भव्य ज्ञानी योगियों के लिये समझाया है।

श्री कुंदकुंदाचार्य ने पंचास्तिकाय में कहा है कि—

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओग विसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो।।

जो सदा निश्चयनय से अपने भाव प्राण से और व्यवहारनय से द्रव्य प्राणों से जीता है, वह जीव है। वह निश्चय नय की अपेक्षा अपने गुण से अभिन्न एक वस्तु है, व्यवहार नय की अपेक्षा गुण भेद से चेतना गुण सहित है। इस कारण जानने देखने वाला है। पुनः कैसा है? जानने देखने रूप परिणामों से सहित उपयोगमयी है।

प्रश्न—चेतना और उपयोग इन दोनों में क्या भेद हैं?

इसका उत्तर—

चेतना तो गुण रूप है, उपयोग उस चेतना की जानने रूप पर्याय है। यही इनमें भेद है।

पुनः यह आत्मा कैसा है? आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन पदार्थों में निश्चय से अपने भाव कर्मों की समर्थता संयुक्त (प्रभु) है। व्यवहार नय से द्रव्य कर्मों की ईश्वरता से युक्त है, इस कारण प्रभु है। पुनः कैसा है?

निश्चयनय से तो पौद्‌गलिक कर्मों का निमित्त पाकर जो जो आत्मा के परिणाम होते हैं उनका (भाव कर्मों का) कर्ता है। व्यवहारनय से आत्मा के अशुद्ध परिणामों का निमित्त पाकर जो पौद्‌गलिक कर्म बनते हैं उनका कर्ता है। फिर कैसा है? निश्चयनय से तो शुभ-अशुभ कर्मों के निमित्त से उत्पन्न हुआ जो सुख-दुःख परिणाम उसका भोक्ता (भोगने वाला) है और व्यवहार नय से शुभ-अशुभ कर्मों के उदय से उत्पन्न हुए इष्ट अनिष्ट विषयों का भोक्ता है फिर कैसा है? निश्चय से यद्यपि लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है तथापि व्यवहारनय की अपेक्षा संकोच विस्तार शक्ति से नामकर्म के द्वारा निर्मापित लघु या दीर्घ शरीर प्रमाण है फिर कैसा है? यद्यपि व्यवहारनय से कर्म सहित होने से मूर्तिक है तथापि निश्चय से स्वाभाविक भाव से अमूर्त है। फिर कैसा है? निश्चय से पुद्‌गल कर्मों का निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाले

चा० च० प. पू. आचार्य श्री १०८ शांतिसागर जी महाराज

राष्ट्रसंत प. पू. आचार्य श्री १०८ विद्यानंद जी महाराज

स्वाध्यायी संत प. पू. उपाध्याय मुनि श्री १०८ निर्णय सागर जी महाराज

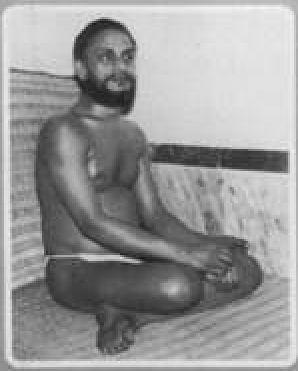

[illegible]

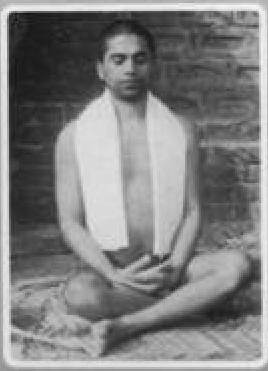

[illegible]

[illegible]

निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला

प. पू. राष्ट्रसंत
आचार्य श्री १०८ विद्यानंद जी महाराज
के पावन आर्शीवाद से एवं
प. पू. स्वाध्यायी संत
उपाध्याय श्री १०८ निर्णय सागर जी महाराज
की पावन प्रेरणा से

निर्ग्रन्थ ग्रंथमाला
द्वारा प्रकाशित
अनूठी
एवं नवीन ग्रंथमाला

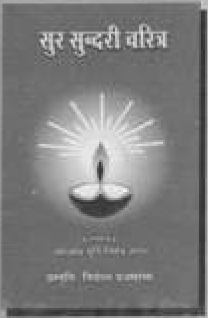
सुर सुन्दरी चरित्र

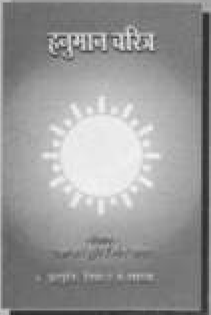

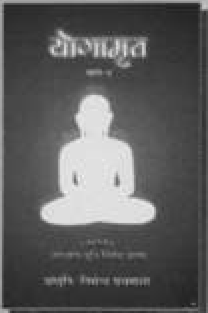

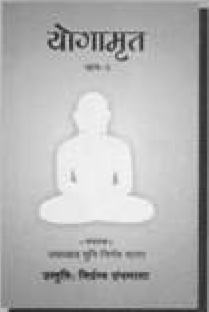

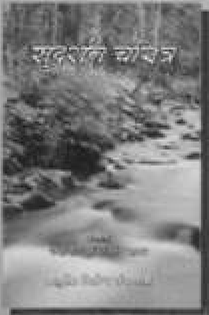

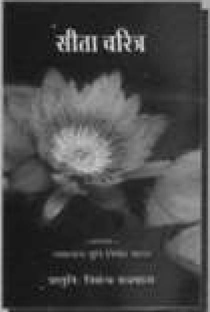

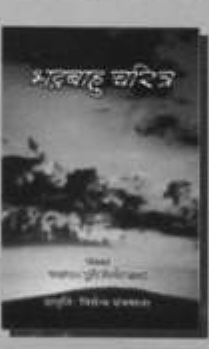

अशुद्ध चैतन्य विभाव परिणमन (भाव कर्म) से युक्त है, व्यवहार से अशुद्ध चैतन्य परिणामों (भाव कर्मों) का निमित्त पाकर होने वाले द्रव्य कर्मों से सहित है। ऐसा यह संसारी आत्मा शुद्ध-अशुद्ध नयों की विवक्षा से सिद्धान्त के अनुसार समझ लेना।

मोक्ष में स्थित आत्मा का स्वरूप उपाधिरहित है और किसी प्रकार की भी बाधा सिद्धात्माओं में नहीं हैं, वे कर्म कलंक से रहित हैं और सदा अपने अनन्त ज्ञानादि गुणों में मग्न हैं, जैसा कि श्री कुंदकुंद आचार्य ने कहा है कि—

कम्ममल विप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वो णाणदरसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं।।

—पंचास्तिकाय

यह संसारी आत्मा पर द्रव्य के सम्बन्ध से जब छूटता है उसी समय सिद्ध क्षेत्र में जाकर विराजमान हो जाता है। इस कारण उससे नीचे के लोक में नहीं आता, वहीं पर ठहरता है। मुक्त आत्मा अनंतज्ञान, अनंत दर्शन स्वरूप से युक्त अनंत अतीन्द्रिय सुख को भोगता है। मोक्ष अवस्था में भी उसके अविनाशी भाव प्राण हैं। उनसे सदा जीता है। इस कारण वहाँ भी जीवशक्ति होती है। अपने चैतन्य-स्वभाव शुद्ध स्वरूप के अनुभव से चेतयिता कहलाता है और उस ही शुद्ध चैतन्य परिणाम से यह उपयोगी भी कहा जाता है। उसके अपनी समस्त अनन्त शक्तियों की समर्थता प्रगट हुई है, इस कारण प्रभु भी कहा जाता है। उसका निज स्वरूप अन्य पदार्थों में नहीं है, ऐसे अपने स्वरूप में सदा परिणमता है, इसलिये वही मुक्त जीव कर्ता है और स्वाधीन सुख की प्राप्ति से वही भोक्ता भी है। चरम शरीर की अवगाहना से किंचित् ऊन पुरुषाकार आत्मा-प्रदेशों की अवगाहना लिए होने के कारण देहमात्र भी कहलाता है। पौद्गलिक उपाधि से सर्वथा रहित हो जाता है इस कारण अमूर्तिक कहलाता है और वही द्रव्यकर्म, भावकर्म से मुक्त हो गया है, इस कारण कर्म-संयुक्त नहीं है, कर्ममुक्त है।

प्रश्न—आत्मा का लक्षण तो चेतन-स्वभाव है, वह विभावरूप कैसे होता है?

समाधान—संसारी जीव के अनादि काल से ज्ञानावरणादि कर्मों का सम्बन्ध है। उन कर्मों के संयोग से आत्मा की चैतन्य शक्ति निज स्वरूप से गिरी हुई है इसलिये संसारी आत्मा विभावरूप होता है। जैसे कि कीच के सम्बन्ध से जल अपने स्वच्छ स्वरूप को छोड़ देता है, उसी तरह कर्म के सम्बन्ध से चेतना विभाव रूप हो गई है। इसी कारण संसारी जीव समस्त पदार्थों के जानने में असमर्थ है। क्षयोपशम की योग्यता के अनुसार कुछ पदार्थों को जानता है। जब काललब्धि होती है तब सम्यग्दर्शन का उदय होता है। जब ज्ञानावरणादि कर्मों का सम्बन्ध नष्ट हो जाता है तब शुद्ध चैतन्य प्रगट होता है। उस शुद्ध चेतना के प्रगट होने से यह जीव त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को एक ही समय में प्रत्यक्ष जान लेता है। निश्चय अवस्था को प्राप्त होता है, अत: और भांति नहीं होता। कुछ अन्य जानना रहा नहीं, इस कारण अपने स्वरूप से निवृत्ति नहीं होती, ऐसी शुद्ध चेतना से निश्चल होता हुआ यह आत्मा सर्वदर्शी सर्वज्ञ भाव को प्राप्त हो जाता है, तब इस के द्रव्यकर्म और भावकर्म के कर्तृत्व का उच्छेद हो जाता है, कर्म उपाधि के उदय से उत्पन्न होने वाले सुख दु:ख आदि विभाव परिणाम भी नष्ट हो जाते हैं। अनादिकाल से विभाव पर्यायों के कारण होने वाली आकुलता के विनाश होने से स्वरूप में स्थिर अनन्त चैतन्य स्वरूप की अनुभूतिरूप अनाकुल अनन्त सुख प्रगट होता है, उसका अनन्तकाल तक भोग बना रहेगा। यह मोक्ष अवस्था में शुद्ध आत्म स्वरूप जानना।

सिद्ध भगवान् सर्व उपाधि से रहित हैं—

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरसी य।
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वावाधं सगममुत्तं॥29॥

—पंचास्तिकाय

विशेषार्थ—यह आत्मा निश्चयनय से केवलज्ञान, केवलदर्शन व परम सुखमय स्वभाव को रखने वाला होने पर भी संसार की अवस्था में कर्मों से आच्छादित होता हुआ क्रम से जानने वाला, क्षयोपशमरूप इन्द्रिय ज्ञान से कुछ-कुछ जानता है तथा चक्षु अचक्षु दर्शन से कुछ-कुछ देखता है और इंद्रियों से उत्पन्न बाधा सहित पराधीन सुख का ही अनुभव करता है। वही

चेतने वाला आत्मा जब कर्मों का नाश करके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है तब अतीन्द्रिय, बाधा रहित स्वाधीन सुख का अनुभव किया करता है।

शंका—मीमांसक मतानुयायी कहते हैं कि 'सर्वज्ञ कोई नहीं है क्योंकि कोई देखने में नहीं आता है जैसे गधे के सींग देखने में नहीं आते हैं।'

समाधान—तुमने (मीमांसक ने) कहा कि कहीं सर्वज्ञ दिखलाई नहीं पड़ता है तो क्या यहाँ इस काल में नहीं दिखलाई पड़ता है या तीन जगत्, तीन काल में, कोई सर्वज्ञ नहीं होता? सो यदि तुम्हारा यह कहना है कि इस देश या इस काल में सर्वज्ञ नहीं है तो यह हमें भी मान्य है और जो तुम यों कहो कि तीन जगत या तीन काल में कोई सर्वज्ञ नहीं है, तो ऐसा तुमने कैसे जाना। यदि तुमने तीन जगत और तीन काल को सर्वज्ञ हुए बिना जान लिया है तो तुम ही सर्वज्ञ हो गये, क्योंकि सर्वज्ञ वही होता है जो कोई तीनों लोकों, तीनों कालों को जानता है। यदि तुम सर्वज्ञ नहीं हो तो तुम तीन जगत तीन काल को नहीं जानते तब तुम यह कैसे निषेध कर सकते हो कि तीन जगत व तीन काल में कोई सर्वज्ञ नहीं होता है।

दृष्टांत कहते हैं—जैसे कोई देवदत्त घट बिना पृथ्वीतल को आँखों से देखे फिर कहता है कि यहाँ इस पृथ्वीतल पर घट नहीं है तो उसका कहना ठीक ही है, अन्य कोई अन्धा पुरुष बिना देखे क्या यह कह सकता है कि वहाँ कहीं भी घट नहीं अर्थात् वह नहीं कह सकता। इसी तरह कोई तीन लोक व तीन काल को देखकर प्रत्यक्ष यह जान सके कि सर्वज्ञ नहीं है वही सर्वज्ञ का निषेध कर सकता है। दूसरा तो सब जानता ही नहीं, वह अन्धे के समान निषेधा नहीं कर सकता है, परन्तु जो तीन लोक तीन काल को जानता है वह सर्वज्ञ का निषेध किसी तरह नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो स्वयं सर्वज्ञ हो गया। उसका तीन लोक तीन काल के विषय का ज्ञान है।

आपने यह हेतु कहा कि सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि इसमें प्रश्न है कि आपको सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है? या तीन जगत व तीन काल के पुरुषों को भी सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है। यदि आपको सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है तो इससे सर्वज्ञ का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि आप तो परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों को व दूसरे के चित्त की बातों को भी नहीं जानते

हैं तो आपके न जानने से ये सब नहीं हैं, ऐसा माना जायगा, सो हो नहीं सकता।

यदि कहो कि तीन जगत व तीन काल के पुरुषों को भी सर्वज्ञ की प्राप्ति नहीं है, तो यह आपने कैसे जाना, इसका पहले भी विचार कर चुके हैं। यह दोष आपके हेतु में आता है।

जो आपने गधे के सींग के समान दृष्टांत कहा सो ठीक नहीं है, क्योंकि गधे के सींग नहीं है परन्तु सभी पशुओं के सींग नहीं होते ऐसा नहीं है। गधे आदि के सींग नहीं हैं, यह प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है। वैसे ही सर्वज्ञ भी इस देश में इस काल में यहाँ नहीं है किन्तु सर्वज्ञ सर्वत्र सदा नहीं है, ऐसा नहीं है। इस तरह आपके हेतु तथा दृष्टांत में दोष आता है।

फिर शंकाकार कहता है कि सर्वज्ञ के अभाव में तो आपने दूषण दिया, परन्तु यह तो बताइये कि सर्वज्ञ के सद्भाव में क्या प्रमाण है?

समाधान—सर्वज्ञ कोई है, क्योंकि जैसा पहले कहा है उस तरह उसके लिये बाधक प्रमाण कोई नहीं है जैसे अपने अनुभव में आने योग्य सुख-दुःख है तथा दूसरा अनुमान प्रमाण है कि सूक्ष्म पदार्थ, अव्यवहित या नहीं कहे हुए पदार्थ, दूरदेशवर्ती पदार्थ, भूत भावीकाल के पदार्थ, स्वभाव से इन्द्रिय अगोचर पदार्थ किसी भी पुरुष विशेष के प्रत्यक्ष हैं, यह साध्य है। उसमें साधक हेतु यह है कि इन पदार्थों का अनुमान होता है, जो-जो पदार्थ अनुमान का विषय होता है, वह किसी को प्रत्यक्ष अवश्य दिखाई पड़ता है, जैसे अग्नि आदि, क्योंकि ये सब पदार्थ अनुमान के विषय हैं इसलिये किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं। इस तरह संक्षेप से सर्वज्ञ की सिद्धि जानना चाहिए। यह अध्यात्म ग्रन्थ है इससे विशेष नहीं कहा है।

श्री पद्मसिंह मुनिकृत ज्ञानसार में कहा है कि—

जरमरणजम्मरहियं कम्मविहीणो विमुक्कवावारो।
चउगइगमणागमणो णिरंजणो निरूवमो सिद्धो ॥33॥
परमट्ठगुणेहिं जुदो अणंतगुणमायणो णिरालंवो।
निच्छेओ निब्भेओ अणंदिदो मुणइ परमप्पा ॥34॥

भावार्थ—सिद्ध भगवान जन्म, जरा-मरण से रहित हैं, कर्मों से छूट

गए हैं, सर्व व्यापार व चार गति में जाने आने के प्रपंच से शून्य हैं, मल रहित निरंजन हैं, उपमारहित हैं, परम आठ गुण सहित हैं, अनंत गुणों के पात्र हैं परावलम्बन से रहित हैं, अच्छेद्य हैं, अभेद्य हैं, आनन्दमय परमात्मा हैं।

जीव का अन्य लक्षण—

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो
प ठ व ।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥30॥

—पंचास्तिकाय

विशेषार्थ—यद्यपि जीव शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध चेतना प्राण से जीता है तथापि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य रूप चार प्राणों से तथा अशुद्ध निश्चयनय से भाव रूप चार प्राणों से वर्तमान काल में ही जी रहा है, भविष्य में भी जीवेगा, और पहले जी चुका है। वे द्रव्य प्राण तथा भावप्राण अभेद से बल, इन्द्रिय, आयु, श्वास, निःश्वास हैं। गोम्मटसार में भी कहा है कि—

वाहिरपाणेहिं जहा, तहेव अब्भंतरेहिं पाणेहिं।
पाणंति जेहि जीवा, पाणा ते होंति ग्मिद्दिट्ठा ॥128॥
इंदियाकायाऊणि य, पुण्णापुण्णेसु पुण्यये आना
वीइंदियादिपुण्यणे, बधोमणोसण्णि पुण्णेव ॥131॥
दस सण्णीणं पाणा सेसेअगूणंतिमस्स बेऊणा।
पज्जत्तेसिदरेसु य, सत्तदुगे सेसगेगूणा ॥133॥

जो बाहरी द्रव्य प्राणों से जैसे जीते है, वैसी ही भीतरी भाव प्राणों से भी जीते हैं, वे जीव हैं। वे प्राण आत्मा के धर्म कहे गये हैं। ज्ञानावरण और वीर्य अन्तराय के क्षयोपशम आदि से प्रगट चेतना के व्यापार रूप भाव प्राण हैं।

इन्द्रिय, कायबल, आयु ये तीन प्राण पर्याप्त अपर्याप्त दोनों के होते हैं। श्वासोच्छ्वास पर्याप्त जीवों के ही होता है। द्वीन्द्रियादि पर्याप्त जीवों के वचन बल होता है। सैनी पर्याप्तों के ही मन बल होता है। इस तरह पर्याप्त सैनी पंचेन्द्रिय के दस प्राण हैं, फिर द्वीन्द्रिय तक एक-2 घटते हुए असैनी पंचेन्द्रिय

के नौ, चौइन्द्रिय के आठ, तेन्द्रिय के सात, द्वीन्द्रिय के छह प्राण होते हैं। असैनी के मन नहीं होता है। फिर एक एक इन्द्रिय घटती जाती है। अंतिम एकेन्द्रियों के दो कम हो जाते हैं अर्थात् रसनाइन्द्रिय व वचन बल नहीं होता, केवल स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु, श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं।

जो जीव अपर्याप्त हैं उनमें असैनी सैनी पंचेन्द्रिय के मन, वचन, श्वास के बिना सात प्राण होते हैं। फिर एक एक प्राण घटता हुआ चौइन्द्रिय के छह, तेइन्द्रिय के पांच, द्वीन्द्रिय के चार, एकेन्द्रिय के तीन प्राण होते हैं अर्थात् स्पर्शन इन्द्रिय, काय बल और आयु। जब प्राणों का वियोग होता है तब ही स्थूल शरीर का वियोग या मरण होता है।

इसी प्रकार जीव में अगुरुलघुत्व, असंख्यात् प्रदेशपना, व्यापकत्व, अव्यापकत्व, मुक्तत्व और संसारीपने को भी बतलाते हैं।

अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे।
देसेहिं असंखादा सिच लोगं सव्वमावण्णा॥31॥
केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसायजोगजुदा।
विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्ध संसारिणे जीवा॥32॥

अर्थ—अगुरुलघु गुण अनंत है उन अनंतगुणों से परिणमन करते हुए सर्वजीव प्रदेशों से असंख्यात-प्रदेशी हैं। किसी अपेक्षा से सर्व लोक में व्याप्त होते हैं परन्तु कितने ही व्याप्त नहीं होते हैं। मिथ्यादर्शन, कषाय व योग सहित बहुत संसारी जीव हैं तथा उनसे रहित सिद्ध हैं।

सिद्ध भगवान अपने स्वभाव में सिद्ध हैं उनका किसी भी अन्य कारण से सम्बन्ध नहीं। वे परम संतोषी परम कृतकृत्य व परम आनन्दमयी हैं।

जीव का अभाव हो जाना ही मुक्ति है ऐसे बौद्ध का मत है। इसका समाधान करने के लिये आचार्य ने बतलाया है कि:—

सस्सदमधउच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च।
विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे॥37॥

विशेषार्थ—सिद्ध भगवान की सत्ता सदा बनी रहती है इसी से उनमें

नीचे लिखे आठ स्वभाव सिद्ध होते हैं। (1) शाश्वतपना इसलिये है कि सिद्ध भगवान अपने टंकोत्कीर्ण ज्ञाता दृष्टामय एक स्वभाव रूप से सदा बने रहते हैं। (2) उच्छेद या व्ययपना उनमें इसलिये है कि पर्याय की अपेक्षा अगुरुलघुगुण द्वारा षट्स्थान पतित हानि वृद्धि की अपेक्षा सदा ही पर्यायों का नाश हुआ करता है—ये व्ययपना उत्पाद का अविनाभावी है। यह उत्पाद व्यय होना प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का स्वभाव है। (3) भव्यपना इसलिये कि विकार रहित चिदानंदमय एक स्वभाव से वे सदा परिणमन करते रहते हैं, यह उनमें होनापना या भव्यपना है। (4) अभव्यपना इसलिये है कि वे कभी भी मिथ्यात्व व रागादि विभाव परिणामों में परिणमन नहीं करेंगे। इन रूप न होना, यही अभव्यपना है। (5) शून्यपना इसलिये कि अपने शुद्धात्मद्रव्य से विलक्षण जो परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव चतुष्टय हैं, इनका नास्तिपना या शून्यपना या अभाव सिद्धों के विद्यमान है। (6) अशून्यपना इसलिये कि अपने परमात्मा सम्बन्धी निजद्रव्य, निजक्षेत्र, निजकाल व निजभाव रूप चतुष्टय से उनमें अस्तिपना है। वे कभी अपने शुद्ध गुणों से रहित नहीं होते हैं (7) उनमें विज्ञान-इसलिये है कि वे सर्व-द्रव्य के सर्वगुण व सर्व-पर्यायों को एक समय प्रकाश करने को समर्थ पूर्ण निर्मल केवल ज्ञान गुण से पूर्ण हैं। (8) अविज्ञान-इसलिये है कि उनमें अब मतिज्ञानादि क्षयोपशम रूप अल्पज्ञान का अभाव है अर्थात् अब वे इन विभावरूप अशुद्ध ज्ञानों से शून्य हैं। इस तरह ये नित्यपना अनित्यपना, भव्यपना, अभव्यपना, शून्यपना अशून्यपना, विज्ञान, अविज्ञान ये आठ स्वभाव सिद्धों में हैं। यदि जीव की सत्ता मोक्ष में न मानी जावे तो सिद्ध नहीं हो सकते हैं। जीव की सत्ता रहते हुए ही सिद्ध होते हैं इनके अस्तित्व से ही मुक्ति में शुद्ध जीव की सत्ता रहती है।

परमात्मा का स्वरूप इस प्रकार है—

स स्वयम्भूः स्वयंभूतं, सज्ज्ञानं यस्य केवलं।
विश्वस्य ग्राहकं नित्यं, युगपद्दर्शनं तदा ॥22॥
येनाप्तं परमैश्वर्यं, परानन्दसुखास्पदम्।
बोधरूपः कृतार्थोऽसावीश्वरः पटुभिः स्मृतः ॥23॥
शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शांतमक्षयं।

वाप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ॥24॥
महामोहादयो दोषा ध्वस्ता येन यदृच्छया।
महाभवार्णवोत्तीर्णो महादेवः स कीर्तितः ॥26॥
रौद्राणि कर्मजालानि शुक्लध्यानोग्रवन्हिना।
दग्धानि येन रुद्रेण तं तु रुद्रं नमाम्यहम् ॥30॥
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं स्थानमात्मस्वभावजम्।
प्राप्तं परमनिर्वाणं येनासौ सुगतः स्मृतः ॥41॥

अर्थ—वह परमात्मा स्वयम्भू है, क्योंकि उसके अपने आप ही सर्व विश्व को जानने देखने वाला और सदा नित्य रहने वाला केवलज्ञान और केवल दर्शन प्रगट हो गया है। वही ईश्वर है, वही कृतार्थ है ऐसा बुद्धिमानों ने माना है, क्योंकि उसने परमानन्द सुख का स्थान और ज्ञानमयी परम ऐश्वर्य को प्राप्त कर लिया है। वही परमात्मा शिव कहा गया है जिसने सुखमयी व परम हितरूप शांत व अविनाशी निर्वाण या मुक्ति पद को प्राप्त कर लिया है क्योंकि वह अपने दृढ़ भावों से महा मोह आदि बड़े-2 दोषों को नष्ट करके संसार रूपी महान् समुद्र के पार-पहुँच गया है इसलिये वही महादेव कहा जाता है। वही परमात्मा रुद्र है क्योंकि उसने महा भयानक कर्म के जालों को शुक्लध्यान की तेज अग्नि से दग्ध कर डाला है। उसी रुद्र को मैं नमन करता हूँ। वही सुगत कहा गया है जिसने सर्व बाधाओं से रहित अपने आत्मस्वभाव से उत्पन्न परम निर्वाण के स्थान को प्राप्त कर लिया है।

वास्तव में परमात्मा की महिमा वचनगोचर नहीं है। सिद्ध भगवान सर्वोत्कृष्ट व परम पवित्र आत्मा है उन्हीं के समान मैं भी हूँ ऐसा ध्यान में लाकर हमें सदा स्वरूप का अनुभव करना योग्य है।

योगामृत की परम्परा:—

अरहंतावलियिदंनादिनिधनं द्रव्यश्रुतं पुट्टे वि।
स्तरदिंदं गणनाथरिं रचनेवेत्ताचायसंतानादिं॥
बरलंती श्रुतमल्लि सारकथनं द्रव्यानुयोगं करं।
दोरेवेत्तिर्दुदु पाहुडत्रयदिनात्म ज्ञानविज्ञानदिं॥2॥

जिस प्रकार बादल सूर्य की किरण पर आवरण करते हैं उसी के

समान आत्मा के महान् ज्ञानगुण को आवरण करने वाला कर्म ज्ञानावरण है—वस्तु के सामान्य आकार के ग्राहक महान् दर्शनगुण को आवरण करने वाला कर्म दर्शनावरण है। आत्मा के निराकुल सुख गुण को विकृत करने वाले या आत्मा को परपदार्थ में मोहित करने वाले कर्म को मोहनीय कर्म कहते हैं। आत्मा के अनंत शक्ति गुण को घात करने वाले कर्म को अंतराय कर्म कहते हैं। इन चार कर्मों को घाति कर्म कहते हैं। इन कर्मों को तपस्याके द्वारा नाश करने वाली अमृत आत्मा को अरहंत कहते हैं। श्रुतनाम सिद्धांत का है। श्रुत दो प्रकार का है, भावश्रुत और द्रव्यश्रुत। अमृत-आत्मा के अपने भाव से जानने योग्य कारणरूप सिद्धांत को भावश्रुत कहते हैं और वचन के द्वारा दूसरे को बोध कराने के लिये कार्यरूप ऐसे सिद्धांत को द्रव्यश्रुत कहते हैं। अरहंत के मुख्य शिष्य को गणधर कहते हैं। जीवन मुक्त अरहंत देव की परंपरा से अनादि अनिधन द्रव्यश्रुत उत्पन्न होता है, यह गणधरों से तथा महान् आचार्य-परम्परा से धारावाही रूप से चला आ रहा है। महापुरुषों का वर्णन करने वाला प्रथमानुयोग है। लोक अलोक विभाग, युगपरिवर्तन और चतुर्गति का प्ररूपण करने वाला करणानुयोग है। गृहस्थ श्रावक और साधुओं के आचार विचार का वर्णन करने वाला चरणानुयोग है। जीव, अजीव, पाप, पुण्य, बन्ध, मोक्ष तत्व का निरूपण करने वाला द्रव्यानुयोग है। इस प्रकार अनुयोग चार प्रकार के हैं। इन चारों में से जो चौथा द्रव्यानुयोग है वह द्रव्यानुयोग अत्यंत सारभूत अध्यात्म-योग से परिपूर्ण है। यह पाहुड़ आत्मविज्ञान से प्राप्त होता है। पाहुड़ नाम प्राभृत का है अर्थात् प्राभृत का अर्थ शास्त्र है। कुंदकुंदाचार्य के पंचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार इन तीन शास्त्रों को पाहुड़त्रय कहते हैं। इस प्रकार यह सारभूत द्रव्यानुयोग इन पाहुड़त्रय द्वारा आत्म-ज्ञान विज्ञान से प्राप्त होता है। ऐसा समझना चाहिये।

विवेचन—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने आचार्य-परम्परा का प्रतिपादन किया है। इसके सिवाय इसमें चार अनुयोग का निर्देश किया है। वह अनुयोग प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें पहले प्रथमानुयोग में परम्परा से महान् पुरुषों का इतिहास, उनके वैराग्य, सम्पत्ति, सुख-दु:ख, आदि का वर्णन होता है। करणानुयोग में तीनलोक का

वर्णन, लोक का स्वरूप, त्रसनाड़ी का वर्णन, अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक का वर्णन किया है। जिसमें अनादि काल से जीव पाप और पुण्य से जन्म लेकर इसमें जन्म मरण करते हैं। अधोलोक में अशुभ (पाप) कर्म के उदय के द्वारा जाते हैं और वहाँ जाकर के नरक के दुःख भोगते हैं, नरक सात हैं। करणानुयोग में उन सात नरकों का वर्णन किया गया है।

मध्य लोक में पाप और पुण्य के अनुसार जीव जन्म लेकर किस तरह से सुख-दुःख भोगते हैं, पाप और पुण्य के द्वारा सुख दुःख का अनुभव करते हैं इसका वर्णन तथा नदी, समुद्र आदि का इसमें वर्णन किया है।

इस मध्य लोक में जन्म लेकर पुण्योपार्जन करने वाले जीव स्वर्ग में कहाँ जन्म लेते हैं, इन्द्रिय विषयादि कैसे भोगते हैं, उनके आचार विचार कैसे रहते हैं।

किस स्वर्ग में कितने पटल हैं आदि ऊर्ध्व लोक का वर्णन है। इसे मध्य लोक कहते हैं।

साधु के आचार विचार का वर्णन करने वाला यह चरणानुयोग है इसमें मुनिधर्म की तरह श्रावक धर्म का भी विवेचन होता है। षट्द्रव्य, पाँच अस्ति काय, सात तत्व, नौ पदार्थों का वर्णन करने वाला अनुयोग द्रव्यानुयोग है। यहाँ ग्रन्थकार ने चारों अनुयोगों में से अंतिम सारभूत भव्य जीवों के ग्रहण करने योग्य निश्चय आत्मतत्व का कथन किया है। इस कथन द्वारा ग्रन्थकार ने अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करने वाले भव्य जीवों को इस महान विषय संसार समुद्र से निकालने के लिये प्रयास किया है। इसलिये भव्यजीव इस द्रव्यानुयोग का मनन करके अपने आत्मा को कर्म कीचड़ से निकालने की शक्ति प्राप्त करे, इस प्रयोजन से पवित्र योगामृत ग्रन्थ को कहने की प्रतिज्ञा की है। यह ग्रन्थ योगामृत उन्हीं के लिये है जो संसार से विरक्त होकर वीतराग अवस्था धारण किये हुए हैं। हे भव्यजीव! इस ग्रन्थ का मनन करो और योगामृत का पान करके आत्मा को अजरामर बनाओ।

ग्रन्थ-रचना का आधार-

आचार्योत्तमरापारिं तिळिद तत्वज्ञानिगल् कोडंकुं-
दाचार्य सर्कलानुयोग दोळ्गं तत्सारमंकोंडुं पू-

र्वाचार्यावळियोजेयिं समयसारग्रंथमंमाडि वि–
द्याचातुर्यमनी जगक्के मेरेदर् चारित्रचक्रेश्वरर् ॥3॥

भावार्थ–आप्त-स्वरूप आचार्यों में श्रेष्ठ महान तत्वज्ञानी, चारित्र चक्रवर्ती श्री कुंदकुंदाचार्य ने सम्पूर्ण अनुयोगों के सार को निचोड़ कर पूर्वाचार्य-परम्परा से प्राप्त आध्यात्मिक ज्ञान को समयसार (आत्मसार) ग्रन्थ की रचना द्वारा अपनी विद्याचातुरी को इस जगत में प्रकाशित किया है या प्रसारित किया है।

विवेचन–ग्रंथकार ने ऊपर के श्लोक में ग्रंथ की परिपाटी तथा प्रमाणता को बतलाते हुए श्री कुंदकुंदाचार्य की ख्याति प्रगट की है। श्री कुंदकुंदाचार्य ने चारो अनुयोगों का मनन करके उसके सार को निचोड़ कर भव्य जीवों को पान कराया है। अनादि काल से यह आत्मा बाह्य वस्तु में रमण करते हुए विविध विषय कषाय के आधीन होता हुआ अनेक प्रकार के कष्ट उठाता आ रहा है। इन शरीर आदि बाह्य पदार्थों में इस जीव को सुख और शांति मिलती है। ऐसी झूँठी वस्तु से बाह्य वस्तु में ही सुखमानकर सांसारिक प्राणी अपना जीवन बिता रहा है। संसार में वह अनेक वस्तुओं का परिचय करता आया परन्तु शुद्ध सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, जो निज स्वभाव है उस स्वभाव का बिलकुल भी उस जीव को परिचय नहीं हुआ। यह निजी स्वरूप सम्पूर्ण वस्तुओं से भिन्न है। निर्विकार है, निर्मल है, शुद्ध है, अनेक गुणों से परिपूर्ण है। इतना होने पर भी यह जीव इसकी ओर दृष्टि न रखते हुए बाह्य पदार्थ में दृष्टि डालकर उसी को अपना मानकर उसमें रमण कर रहा है। इसलिये कुंदकुंदाचार्य ने सार-असार दोनों को ठीक समझ करके स्व और पर के स्वरूप को समझकर निस्सार वस्तु को हेय बतलाकर, अपने आप में रत होकर निज-अमृत का पान किया। इस अमृत पान से तृप्त होकर अज्ञानी भव्य जीवों को यही सार ग्रहण करने योग्य हे, इससे भिन्न जितनी पर वस्तु हैं, वह हेय हैं, ऐसा समझकर योगियों को सम्बोधन करते हुए उस योगामृत को पीने की प्रेरणा की है। उसी का सार लेकर श्री मुनि बालचन्द्रोदय ने इस ग्रन्थ द्वारा अध्यात्म सार को समझाने का प्रयास किया है। जो भव्य जीव अपना कल्याण करना चाहता है, वह इस ग्रन्थ का मनन करता हुआ निज आत्मा को

शुद्ध करे और अपने अविनाशी पद को सिद्ध करे। परमात्म तत्व को जाने बिना इस जीव को निजात्म तत्व का अनुभव नहीं हो सकता, ऐसा आचार्य बतलाते हैं–

अरियदवररिदरोळ्मरिवुद्दु परमात्मनंगुणमनरिविंकर्म।
परिपड्डुगुमरियदिर्दडे नरेयट्टिट सगुळ्दु सुत्तु त्तिर्कु कर्म ॥4॥

परमात्म तत्व को जिन्होंने आज तक नहीं जाना है उन्हें अध्यात्म-ज्ञानी के पास जाकर उसको मनन करना चाहिये। अध्यात्म तत्व को जानने से, मनन करने से तथा रुचिपूर्वक ग्रहण करने से कर्मो का नाश होता है। इस परम पवित्र परमात्म तत्व को यदि हम नहीं समझेंगे तो ये दुष्ट कर्म हमारा पीछा करते रहेंगे। आत्मा में प्रवेश करके वे नरकादि चार गतियों में भ्रमण कराते रहेंगे इसलिये भव्य जीव को सबसे पहले आत्म-तत्व को ठीक तरह से समझ लेना चाहिए। इससे ही कर्म की निर्जरा होगी। बिना समझे हुए कर्म की निर्जरा नहीं हो सकती।

अर्थ—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह दर्शाया है कि जब तक आत्म-तत्व को जानकर उसके प्रति रूचि न होगी तब तक उससे भिन्न पदार्थो को आत्मा से अलग नहीं कर सकते इसलिए इस तत्व को भले प्रकार जानने के लिए सदगुरु के समाधान की आवश्यकता है। जिन्होंने आत्म-तत्व भली प्रकार जाना है उनसे तत्व को समझकर उसका मनन करेंगे तब कर्म की निर्जरा होने में देर नहीं लगेगी। तब इस तत्व को न समझ कर अगर यद्वा तद्वा पदार्थ को मानेंगे, आराधना करेंगे तो कर्म की निर्जरा न हो सकेगी। कर्म-बन्ध ही होता रहेगा। आत्म-तत्व को जाने के लिए अजीव आस्रव आदि तत्व जानना भी आवश्यक है–

भावहि पढमं तच्चं विदियं तदियं चउत्थ पंचमयं।
तिरयणसुद्धो अप्पं ऋणाइणिहणं तिवग्गहरं॥114॥

हे योगी! सबसे पहले तुम जीव तत्व को ठीक समझो। दूसरा जो अजीव तत्व है, तीसरा आस्रव तत्व है, चौथा बन्ध तत्व है, पांचवाँ संवर तत्व है उनको तदनन्तर अच्छी तरह समझो। फिर मन, वचन, काय को शुद्ध बनाकर अनादिनिधन आत्म-तत्व का ध्यान करो। धर्म, अर्थ, काम में रत न होने दो।

भावार्थ—प्रथम जीव तत्व की भावना ऐसी करो कि जीव दर्शन ज्ञान मय चेतन स्वरूप है। यही चेतन स्वरूप मैं हूँ, ऐसे आत्म-तत्व की भावना करो। दूसरा अजीव तत्व है जो कि अचेतन है और पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल रूप पाँच प्रकार का है। इनको ठीक तरह से विचार करके मनन करो। तत्पश्चात् मैं इस अजीव रूप नहीं हूँ, मैं इस पररूप नहीं हूँ, इस तरह से भावना भाओ। तीसरा आस्रव तत्व है। यह जीव पुद्गल के संयोग जनित भाव है। जीव के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये भावास्रव हैं। इनके द्वारा कर्मवर्गणा खिंचकर आत्मा में आना द्रव्यास्रव है। इस तरह से इसको समझकर इस को त्यागने की भावना करनी चाहिए। खिंचकर आई हुई कर्म वर्गणाओं का आत्म प्रदेशों के साथ मिलकर एकमेक हो जाना बन्ध है, इससे जन्म मरण रूप संसार होता है। इस विषय में विचार करना चाहिए कि मैं, रागद्वेष, मोहरूप परिणत होता हूँ जो कि मेरा विभाव है, मेरा स्वभाव नहीं है और जो मुझसे बंधा हुआ है वह कर्म पुद्गल है। वह कर्म पुद्गल ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार का होकर इस आत्मा से बंधा हुआ है। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग रूप चार प्रकार होकर बंधा हुआ है। वे ज्ञानावरण, मोहनीय आदि कर्म मेरे गुणों को विकृति करते हैं। वे कर्म मुझसे, मेरे से भिन्न हैं और संसार के कारण हैं। मुझे रागद्वेष, मोहरूप न होना चाहिए। पांचवाँ संवर तत्व है जो कि कर्म आस्रव को निरोध करता है। वह सम्यक्त्व तथा व्रत, समिति, गुप्ति आदि चारित्र द्वारा होता है। कर्म आस्रव न होने पर कर्म का बन्ध नहीं होता इससे आत्मा आगामी कर्म मल से शुद्ध रहता है। इस प्रकार इन पाँच तत्वों की भावना करनी चाहिए। संवर होने पर पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। पूर्वबद्ध कर्मों का तप द्वारा दूर होते जाना निर्जरा और सब कर्मों का अभाव होना मोक्ष कहलाता है। इस प्रकार सात तत्व की भावना करनी चाहिए। शुद्ध आत्म-तत्व की भावना व्यवहार धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग का अभाव करती हैं। त्रिवर्ग से भिन्न चौथे मोक्ष पुरुषार्थ को प्रकट करती है। यह आत्मा ज्ञान दर्शन, चेतन स्वरूप अनादि निधन है। इस प्रकार बारम्बार अभ्यास करना, मनन करना, भावना करना, दूसरे को इस दिशा में प्रेरित करना, ऐसा करने वाले को भला कहना ऐसे कृत,

कारित, अनुमोदना से भावना करना, यही शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये साधन है। माया, मिथ्या और निदान शल्य से रहित होना, ख्याति, लाभ, पूजा का आश्रय न लेकर आत्म तत्व की भावना करने से भाव शुद्ध होता है।

मन को एकाग्र एवं शुद्ध करने के लिये पुरुष या स्त्री के विषय में यों विचार करना कि यह स्त्री है ? नहीं, यह तो जीव तत्व की एक पर्याय है। इसका शरीर पुद्‌गल की पर्याय है। यह जो राग द्वेषादि भाव करती है वह इस जीव के विकार भाव हैं। विकार भाव आस्रव के कारण हैं। इसकी बाह्य चेष्टा पुद्‌गल की है। इस विकार से इस आत्मा के कर्म का बन्ध होता है। यह विकार न हो तो कर्म आस्रव और बन्ध भी न हो। यदि मैं इसको देखकर विकार भाव करूँ तो मेरे भी आस्रव तथा बन्ध होगा इसलिये मुझे विकार रूप नहीं होना चाहिए इस तरह मेरे संवर होगा। जहाँ तक बने वहाँ तक विकार से अपना भाव अशुद्ध न होने देना चाहिए। यह हितकारिणी तत्व-भावना है। जब तक ऐसी भावना नहीं बनती तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं।

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेह चिंतणयाइं।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं थाणं ॥115॥

हे योगी! जब तक इस जीव आदि की भावना न भावे या ठीक चिन्तवन जब तक न करे जब तक तुम जन्म मरण आदि रहित मोक्ष स्थान को नहीं पहुँच सकते। अरहंत, सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप चिन्तवन करना चाहिए। इसलिये शुद्ध तत्व निज आत्मा की भावना और शुद्ध स्वरूप के ध्यान का उपाय ग्रहण करना, यही मोक्ष के लिये कारण है। कहा भी है कि—

पावं हवइ असेसं पुण्णएमसेसं च हवइ परिणामा।
परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्‌ठो ॥116॥

अर्थ—आत्मा के अशुभ परिणामों से समस्त पाप बन्ध होता है, शुभ परिणामों से शुभ कर्म-बन्ध होता है और रागद्वेष रहित शुद्ध भावों से मोक्ष होती है ऐसा जैन शासन में बतलाया है।

मिथ्यात्व, हिंसा आदि पापों से तथा दुर्व्यसनों से पापबन्ध हुआ करता

है। जो पंच परमेष्ठी की भक्ति, जीवों पर दया, अणुव्रत, महाव्रत पालन, बन्ध्य वन्दनादि शुभलेश्यारूप परिणाम होता है, उससे पुण्यास्रव तथा पुण्य बन्ध होता है। यानी शुद्ध परिणाम-रहित भावों से बन्ध होता है। शुद्ध भाव के सन्मुख रहना उसके अनुकूल शुभ परिणाम को रखना तथा अशुभ परिणाम का सर्वथा त्याग करना इस प्रकार जो जीव करता है, उसका ऐसा करना ही सिद्धात्मा की प्राप्ति का उपाय है।

पुण्य पाप का बन्ध जिस भावना से होता है वह बतलाते हैं–

मिथ्यात्व भाव यानी अतत्वश्रद्धा तथा असयंम, इनका जब तक त्याग नहीं हो तब तक इन्द्रिय विषयों में राग और जीव की विराधना का भाव होता है। मन, वचन और काय के निमित्त से आत्म प्रदेशों का चलायमान होना यह योग है। कषाय सहित योग की प्रवृत्ति कृष्ण, नील, कापोत अशुभलेश्या रूप जब तक होती है तब तक इस जीवको पाप कर्म का बन्ध होता है। ऐसे पाप कर्म करने वाला जीव जिन वचन की श्रद्धा नहीं रखता। अन्य मत के श्रद्धान से कदाचित् शुभलेश्या से पुण्य बन्ध होता है तो वह भी मिथ्यात्व के कारण पाप रूप ही परिणाम है। सम्यक् दृष्टि की सराग प्रवृत्ति पुण्य गिनी जाती है। ऐसे पाप और पुण्य या शुभ और अशुभ बन्ध का कारण है। इसलिये हे जीव ! तू केवल अपने शुद्धात्मा की भावना कर, यही मोक्ष के लिये कारण है। इससे भिन्न जितने भी पर-तत्व हैं वे आत्मा को संसार के लिये कारण हैं। इस प्रकार श्री गुरु ने समझाया है।

अब आगे बतलाते हैं-शुद्धात्म-तत्व का ध्यान ही मोक्ष का कारण है।

गुरुडमुद्रयिं विषमसर्पविषं किडुवले तीव्रथा।
कर किरणंगलिं तमद पर्बु तेरकदुगिवते कोपदोक्॥
पोरेयदे रागददोल् सततमोंददे शुद्ध निजात्म तत्वमं।
स्मरियि से ताकदु पोकुमघ संकुलपें बुद्धि दाव विस्मयं॥5॥

भावार्थ—अत्यंत विषमय सर्प का विष गरुड़ मुद्रा से एकदम नष्ट होता है। इसी तरह चारों दिशा में फैला हुआ अंधकार सूर्य की किरणों से विलीन हो जाता है। इसी प्रकार निष्कषाय शान्त मन एवं एकाग्र चित्त से

आत्म-तत्व का चिन्तन करने पर सम्पूर्ण कर्म समूह नष्ट होने में क्या आश्चर्य है?

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में आत्म-ध्यान ही कर्म की निर्जरा का निमित्त बतलाया है। जिस प्रकार उग्र विषधर सर्प चंदन के वृक्ष में सुगंध से लुब्ध होकर उससे लिपटा रहता है। उसी चन्दन के पेड़ पर गरुड़ पक्षी आकर आवाज दे तो वह सर्प तुरन्त वहाँ से भाग जाता है। सर्प का प्राणहारी विष भी गरुड़ मंत्र से दूर हो जाता है। चारों दिशाओं में फैला हुआ अंधकार किसी साधारण दीपक के प्रकाश से दूर नहीं होता है। जब सूर्य का उदय होता है तो उसकी किरणों के चारों तरफ फैलते ही अंधकार दूर हो जाता है। इसी तरह आत्म-चिन्तन करने वाले योगी के हृदय में अनादि काल से अज्ञान रूपी अंधकार को फैलाने वाले क्रोधादि कषाय पलायमान हो जाते हैं। तब आत्मा शुद्ध निर्मल, निरंजन हो जाता है। जब यह आत्मा सम्पूर्ण कर्म बन्ध से दूर होकर अपने स्वरूप में विचरण करने लगता है, उसी का नाम मोक्ष है। इस प्रकार मोक्ष का चिन्तन करने वाला जीव संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। और वह हमेशा के लिये सुख शांति रूप मोक्षलक्ष्मी में निरंतर रमण करता रहता है।

इस आत्म-तत्व को समझने के पहले दस प्रकार के धर्म ध्यान के स्वरूप को समझना चाहिये। वह धर्म ध्यान उपायों के भेद से दस प्रकार का है—अपाय विचय, उपाय विचय, जीव विचय, अजीव विचय, विपाक विचय, विराग विचय, भव विचय, संस्थानविचय, आज्ञा विचय, कारण विचय। ऐसे धर्म ध्यान के दस भेद हैं।

1. अपायविचय— का स्वरूप कहते हैं। आदि अंत रहित इस संसार में अशुभ मन, वचन, काय के व्यापारों से उपार्जन किये हुए कर्मों का नाश किस प्रकार होगा, इस प्रकार चिन्तवन करना यह अपायविचय धर्म ध्यान हैं

2. उपायविचय—प्रशस्त मन, वचन, काय बिना अशुभ कर्म का नाश नहीं हो सकता है। इस प्रकार चिन्तन करना यह उपाय विचय धर्म ध्यान है।

3. जीवविचय—यह जीव ज्ञान दर्शन उपयोग लक्षण वाला है। द्रव्यार्थिक नय से आदि अंत रहित है। असंख्यात प्रदेश वाला है। अपने द्वारा उपार्जन किये हुए अपने आत्मा के साथ सूक्ष्म कार्माण और स्थूल औदारिक आदि शरीर को धारण करता है। प्रदेश के संकोच और विस्तार स्वरूप वाला है। ऊर्ध्व गमन स्वभाव वाला है। कर्मों के साथ अनादि काल से इसका सम्बन्ध है। कर्म के क्षय से मोक्ष को प्राप्त करने वाला है। अशुद्ध नय से चौदह गुणस्थान वाला है। चौदह मार्गणा स्थान, चौदह जीव समास आदि को प्राप्त करने वाला है। निश्चयनय से यह आत्मा अमूर्त रूप वाला है। इस प्रकार सभी जीवों का स्वरूप है। ऐसे चिन्तन करना यह जीव विचय धर्म ध्यान है।

4. अजीवविचय—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पांच अजीव द्रव्यों के स्वभाव का चिन्तन करना अजीवविचय धर्म ध्यान है।

5. विपाकविचय—ज्ञान सच्चारित्र, आठ प्रकार के कर्म, नाम स्थापना द्रव्य भाव और मूल प्रकृति, उत्तर प्रकृति के भेदों को और आत्म गुण का घात करने वाले कर्म के मन्द-तीव्र परिणाम अनुसार लता, दारु, अस्थि, गाड़ी के पहिये की रेखा के समान ऐसे फल देने वाली शक्ति को और अघाति कर्मों में अशुभ कर्मों के मंद-तीव्र परिणामों के नीम, कांजी के समान, कालकूट विष के समान फल देने वाली शक्ति को और अघाति कर्मों में शुभ कर्मों के मन्द तीव्र भावों के अनुसार होकर गुड़, शक्कर, घी और अमृत के समान उदय में आने वाले और जिस जिस योग में जो जो अवस्था प्राप्त होती हैं उसको चिन्तन करना इसका नाम विपाक विचय धर्म ध्यान है।

6. विरागविचय—यह शरीर अनित्य और क्षणिक है, सार रहित है, वात, पित्त, और कफ इन त्रिदोषों से युक्त है, रस रुधिर, मांस, मज्जा, हड्डी, और शुक्र आदि सप्त धातुमय है, मलमूत्र और अनेक कृमि कीटको से भरा हुआ है। मिट्टी के कच्चे बर्तन में पानी डालने से जैसे वह गलकर चारों ओर से बहता रहता है, उसी तरह पसीना, मल, मूत्र, नाक, कान, आँखों से सदा मल

बहता रहता है। यह महान दुर्गन्धमय है। गंध, पुष्प आदि सुगंध शुचि वस्तु को भी अशुचि कर देता है। इस शरीर से संबंधित पाँचों इन्द्रियों के सुख स्थायी, निराकुल नहीं हैं, वे अंत में विरस बन जाते हैं। किंपाक फल के समान पंचेन्द्रियों के विषय जन्म और मरण को प्राप्त कर देने वाले हैं अर्थात् इस आत्मा को बार-बार चर्तुगति में भ्रमण करा कर अत्यंत दुर्धर दु:खों को उत्पन्न करने वाले हैं। संसार के अन्य अनेक दु:खों के लिये कारण हैं। इनके सेवन करने पर कभी तृप्ति नहीं होती, घृणा उत्पन्न करने वाले हैं। इस तरह यह सभी विषय सम्यक्दृष्टि को वैराग्य उत्पन्न करने में निमित्त कारण हैं। इस प्रकार चिंतवन करना विराग विचय है।

7. भवविचय—सचित्त योनि, अचित्त योनि, सचित्तचित्त मिश्रयोनि, शीत योनि, उष्णयोनि, मिश्रयोनि, संवृत्त, विवृत, मिश्रयोनि जीवोत्पत्ति की निमित्त कारण हैं। इन नौ प्रकार की योनियों में झिल्ली जरा नाल आदि से वेष्टित होकर उत्पन्न होने वाले गर्भज, स्वर्ग में उपपाद शय्या पर उत्पन्न होने वाले, नरकों के छिद्रों में उपपाद शय्यारूप में उत्पन्न होने वाले, जहाँ-तहाँ पुद्गलों को अपने शरीर रूप बनाकर उसमें उत्पन्न होने वाले सम्मूर्छन प्राणी आदि हैं। एक भव से दूसरे भव में जाने के समय एक ही समय में छोड़े हुए तीर के समान सीधा जाने वाले (इषुगति) है, दो समय में हाथ से छोड़े जाने वाले जल के समान एक मोड़े वाली पाणिमुक्ता गति से जाने वाले, तीन समय में दो मोड़ा लेकर जाने वाले जीवों की लांगली गति है। तीन मोड़ा खाकर चार समय में गोमूत्र के समान जाने वाले जीवों की गोमूत्रिका विग्रहगति होती है। संसारी जीव एक शरीर को छोड़कर ऊपर कहे अनुसार एक, दो तीन या चार समय में नवीन शरीर को प्राप्त करता है। इस तरह यह जीव इस संसार रूपी अत्यन्त भयानक वन में भ्रमण करते रहते हैं। इस जीव को सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रय की प्राप्ति अगर नहीं होती है तो प्राप्त किया हुआ यह मनुष्य भव व्यर्थ ही समझना चाहिए। इस प्रकार चिन्तवन करना यह भवविचय धर्म ध्यान है।

8. संस्थान विचय—ऊर्ध्व, मध्य, अधोलोक रूप लोकाकाश का, त्रसनाड़ी, वातवलय, सिद्धशिला आदि के स्वरूप का चिन्तन करना

संस्थानविचय धर्म ध्यान है।

9. आज्ञाविचय—सूक्ष्म होने के कारण आत्मा, कर्म, मोक्ष, पुण्य, पाप आदि को परोक्ष ज्ञान से जानना असंभव है। इसलिये कहा भी है कि—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिना: ॥

जिनेश्वर के द्वारा कहे हुए तत्व अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी हेतु से उनका वचन बाधित नहीं होता है। इसलिये उनका वचन ही प्रमाण है, इस प्रकार उनके वचन पर श्रद्धान् रखने का चिंतवन करना आज्ञा विचय है।

10. कारणविचय—सूक्ष्म परमागम के अर्थ में विस्मरण उत्पन्न हो जाय तो नय, निक्षेप, प्रमाणों द्वारा अविरोध रूप से विचार करके जैनागम के अनुसार स्वसमय भूषण, पर समय दूषण के रूप में समझकर चिंतवन करना कारणविचय धर्म ध्यान है। यह दस प्रकार के भेद वाला धर्म ध्यान पीत, पद्म शुक्ल लेश्या वाले असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तनामक 4, 5, 6, 7 वें गुणस्थान तक होता है।

यह धर्मध्यान बाह्य और आभ्यंतर भेदों से दो प्रकार का भी है। उसमें ध्यान का दृढ़ अकम्प आसन, हाथ, पाँव, मुख, आँख, आदि शरीर-अंगों का तथा वचन के व्यापार का रोकना आदि दूसरों को भी जानने में आने के कारण बाह्य धर्म ध्यान होता है।

अपने द्वारा जानने में आने वाला आभ्यंतर धर्मध्यान है। वह धर्मध्यान मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य और निदानशल्य से रहित होता है।

1. पहली शल्य जो है वह पर पदार्थरूप पुत्र, स्त्री आदि की वांछारूप रागविकार रूप और परवध बंधन छेदादि वांछारूप द्वेष विकार कदाचित् अपने मन में उत्पन्न हो जाये तो सावधान होकर पश्चाताप या आत्मनिंदा करते हुए उसी क्षण में निज शुद्ध परमात्म भावना के सन्मुख होकर परम समरसी भावना रूपी निर्मल जल से विभाव मलीन कलंक को धो डालना चाहिये। परन्तु जो अपने अंतरंग में उत्पन्न हुए विकार को अन्य कोई लोग नहीं समझ सकते हैं, ऐसा समझकर उदासीनता से बहिरंग में बगुला के समान

वेषधारी बनकर जनता को मनोरंजन से विभोर कर देता है अर्थात् अपने वश में कर लेने की चेष्टा करता है, अपने मन को शुद्ध नहीं करता उसे माया-शल्य वाला समझना चाहिये।

2. शुद्धात्म स्वरूप ही साक्षात् उपादेय है, ऐसे न समझ करके उसमें विश्वास नहीं रखना, उससे उदासीन रहना अनात्म श्रद्धालु बनकर ध्यान करना, यह मिथ्यात्वशल्य का स्वरूप है।

3. आत्मभावना से उत्पन्न हुए परमानंद से रहित दृष्ट, श्रुत, अनुभूत पंचेंद्रिय विषयों की प्राप्ति की इच्छा करके ध्यान करना, यह निदान-शल्य है। इस प्रकार की शल्यों को त्यागकर निज शुद्धात्म-भावना से उत्पन्न हुए सुखामृत को अनुभव करने वाले वीतराग निर्विकल्प स्व-संवेदन भावना जो है वह आभ्यंतर निश्चय धर्म ध्यान कहलाता है।

प्रकारान्तर से यह धर्मध्यान चार प्रकार का है–

पिंडस्थं च पदस्थं च, रूपस्थं स्वात्मचिंतनं।
चतुर्धा ध्यानमाख्यातं भव्यराजीवभास्करैः॥

पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ऐसे धर्म ध्यान के चार भेद हैं। यह चार प्रकार का धर्म ध्यान भव्य जनों के हृदय कमल को खिलाने में सूर्य समान योगीश्वरों के द्वारा कहा गया है।

पदस्थं चैव वाक्यस्थं, पिंडस्थं स्वात्म-चिंतनम्।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं, रूपातीतं निरंजनम्॥

मंत्र वाक्य में रहने वाले पदरूप अक्षरों के चिंतवन करने को पदस्थ कहते हैं। अपने आत्म-चिंतवन को पिंडस्थध्यान कहते हैं। समस्त चित्स्वरूप को चिंतवन करने को रूपस्थ ध्यान कहते हैं। कर्म मल से रहित परमात्मा के चिंतवन करने को रूपातीत ध्यान कहते हैं।

पदस्थादि ध्यानों के स्वरूप–

तारेयं क्षीरोधियं, वारियोळिरदोरासि कचिदंते यो लेसेवा।
कारद पंचपदंगळ, नारैदति शुद्ध मनदोळिरिसे पदस्थं॥

क्षीर समुद्र के बीच में चन्द्रमा को स्थापित कर प्रकाश के समान दिखने वाले आकार से युक्त पंच परमेष्ठी के मंत्र को अत्यंत प्रेम से शुद्ध निर्मल हृदय में रखकर ध्यान करना यह पदस्थध्यान है।

पळुकिन कोडदोळु सहजं, वेळुगुव शशिकांते देसेव बिंबाकृति तं।
नोळगोळगे तोळगि वेळुगुव, बेळगं निजमागि कंडोळ्दु पिंडस्थं॥

स्फटिक मणि के पात्र में स्वभाव से प्रकाशित होने वाली चन्द्रमा की ज्योति अर्थात् प्रकाश के समान अपने हृदय कमल में चमकने वाले सच्चे आत्म रूप को अपने हृदय में देखना या उसी का ध्यान करना उसको पिंडस्थ ध्यान कहते हैं।

द्वादशांगणपरिव्रतनं, द्वादशकोट्यर्क तेज विभ्राजितनं।
आदरदिं मनदोळु निलिसु, बंदमे रूपस्थमप्प परमध्यानं॥

द्वादश गणों से युक्त समवशरण में विराजमान होकर बारह करोड़ सूर्यों के प्रकाशों से भी अधिक शरीर की कांति से विराजमान होने वाले अरहन्त परमात्मा के स्वरूप को अपने मन में स्थिर करके चिन्तन करना रूपस्थ ध्यान है।

सहजसुख सहजवोधं, सहजात्मकनेंनिप काष्कें एवीं नलविं।
सहजमने नेलसिनिंदी, बहळ्ते यिंदघविनाश रूपातीतं॥

सहज सुख, सहज ज्ञान, सहज ही होने वाले आत्म-दर्शन को मन में स्थिर कर प्रेम से सहज रूप से अपने भीतर आप ही स्थिर होकर अपने आत्मा का ध्यान करना यही संपूर्ण पाप को नाश करने वाला, रूपातीत ध्यान है। अथवा अनन्त सम्यक्त्व, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, अव्याबाघतत्व से युक्त ऐसे सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करना और उसके गुणों के विचार में लीन होना इसको भी रूपातीत ध्यान कहा जाता है।

एक योगी को ध्यान में जिन धारणाओं का आलम्बन करना चाहिए, वे यहाँ दीं जा रही हैं–

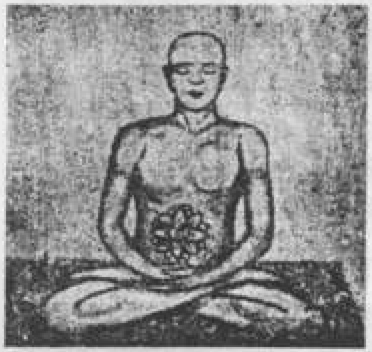

1. एकान्त सेवन विचार—एक ज्ञानी आत्मा विचारता है कि वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है। इस आत्मा का स्वभाव चैतन्यमयी दर्शन ज्ञान का धारक अमूर्तिक है। लेकिन वह अनादि कर्म-बंधन के कारण चतुर्गतिरूप संसार में भ्रमण करता हुआ अनंतकाल तक अनेक पर्यायें धारण करता फिरा है, परपदार्थों से भिन्न अनंत दर्शन ज्ञानमयी सच्चिदानंदरूप की प्रतीति सम्यग्दर्शन है और जो न्यूनाधिकता रहित सूक्ष्म भेदों सहित जाना जाता है वह सम्यग्ज्ञान है और जो स्वरूप में लीन हो जाना सो सम्यक्चारित्र है। इसलिये निश्चय से मेरा धर्म आत्म-स्वरूप है। इसको बिना पहिचाने मेरा निस्तार नहीं होगा।

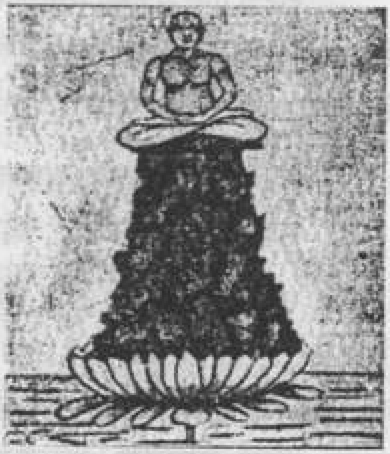

2. पृथ्वी धारणा—मैं एकान्त में बैठकर विचारता हूँ कि यह संसार समुद्र के समान जीवों से भरा है। समुद्र जल से भरा है। उसमें 1000 पत्तों का कमल है। बीच में सुमेरू पर्वत के समान मेरु है। उसके ऊपर एक चौकी विराजमान है।

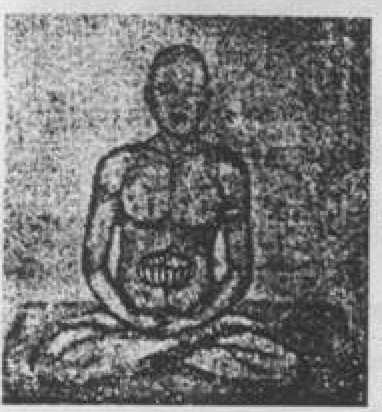

3. कमल धारणा-उस पर बैठा हूँ और विचारता हूँ कि सब सांसारिक झगड़ों से बचकर इस शरीर पुद्गल से शुद्ध होने का उपाय करूँ ताकि भव-भ्रमण से छूट जाऊँ।

3. कमल धारण—मैं उस चौकी पर बैठा विचारता हूँ कि मेरे नाभि-स्थान पर सोलह पत्तों का श्वेत रंग का कमल खिला

हुआ है जो बहुत विस्तार से फला है, तथा जो शुद्ध और साफ है। मैं अपनी ज्ञानदृष्टि उस पर ज़मा कर देखता हूँ।

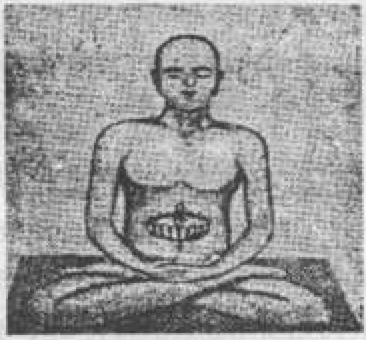

4. बिन्दु कमल—मेरे नाभि-कमल में जो खिले हुए पत्ते हैं उनमें हर एक पत्ते पर पीत रंग के बिन्दु हैं, जो हर एक पत्ते पर बारह बारह हैं। बीच के भाग में भी 12 हैं और बीच में ह्रीं अक्षर है। वही मूल मैं हूँ। मैं बिन्दु के ऊपर दृष्टि रखकर जप करता हूँ। मेरा मंत्र है-स्वाहा 2।

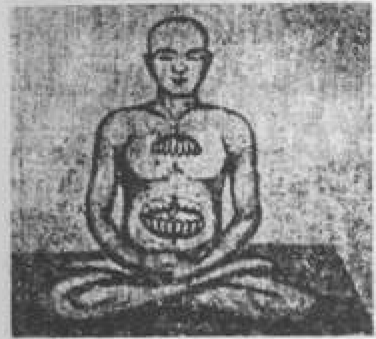

5-ह्रीं—जो नाभि-कमल में विराजमान है, वो प्रकाशमान चमक रहा है। मैं उसमें अपने मन को रोकता हूँ। और विचारता हूँ कि शरीर भर में प्रकाश हो रहा है।

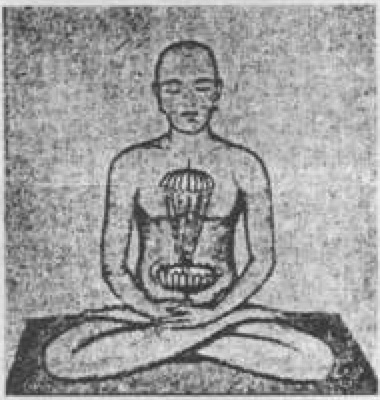

6-कर्मरूपी कमल—मेरी आत्मा के संग आठ कर्म अनंत काल से लगे हैं। ये ही मेरे ज्ञान को ढांकते हैं। मैं उनको कमल के रूप में एकत्र कर हृदय-स्थान में स्थापन कर भावनारूपी ध्यान की अग्नि में उन्हें जलाना चाहता हूँ।

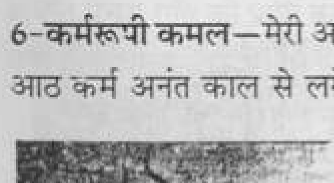

7-अग्नि धारणा—जो नाभि- कमल है उसके बीच में अग्नि विराजमान है। इसकी रेफ से ज्ञान मई अग्नि निकलकर कर्मरूपी

कमल को जलाने लगी है। इस समय शांत भाव से मन को इसी में जोड़े रहना चाहिए और स्वाहा-स्वाहा बोलते रहना चाहिए।

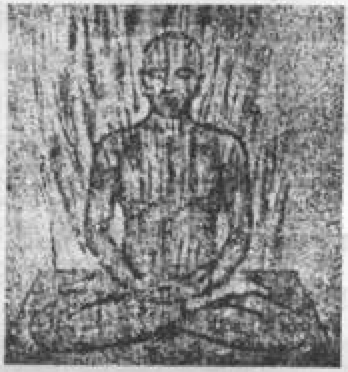

8-अग्नि विस्तार—कर्मरूपी कमल को जलाती हुई अग्नि मस्तक पर जाकर तीन भाग होकर शरीर के चारों तरफ जलने लगी है। मस्तक पर और जंघाओं पर ॐ विराज मान कर विचारें कि तीनों से अग्नि प्रज्वलित हो रही हैं।

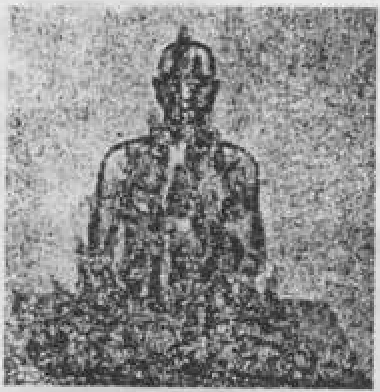

9-पूर्ण अग्नि—अन्दर की अग्नि ने कर्मरूपी कमल को भस्म कर दिया । जो शरीर रूपी पुद्गल है उसको बाहर की अग्नि भस्म कर रही है। आत्मा शांतभाव से ध्यान में लीन है।

10-शरीररूपी खाक की ढेरी—कर्मरूपी कमल को और शरीररूपी पुद्गल को ज्ञानमई अग्नि से भस्म कर दिया है। आत्मा शरीररूपी भस्म में छिपी है, ऐसा विचार करना चाहिए।

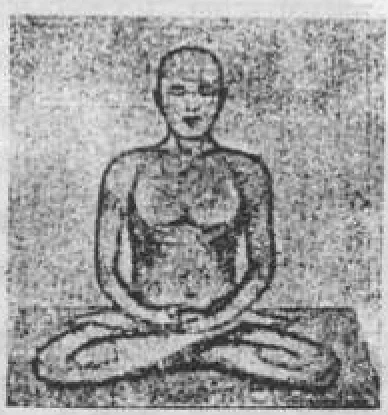

11-वायु धारण—ज्ञानमई आत्मा विचारती है कि वायु वेग से चल रही है, शरीररूपी भस्स को उड़ा रही है और शरीर प्रमाण आत्मा शांत बैठा है।

12-जल धारणा—ज्ञानी आत्मा विचारता है कि चारों तरफ से बादल घिर आये हैं। पानी वेग से गिर रहा है। जो कुछ कर्मरूपी और शरीररूपी

रज आत्मा में है उसको धोकर साफ कर रहा है। आत्मा शांत ध्यान में मग्न है।

पदस्थ ध्यान के लिए विषयभूत होने वाले पंच परमेष्ठियों के मंत्र ध्यान की महिमा का वर्णन–

श्रीकरयथिष्ट
सकल-सुखाकरमपवर्ग कारणं
भवहरणं।
लोकहितं मन्मन दो ळेकाग्रते निल्के निरुपमं पंचपदं॥

सम्यक्त्व से युक्त, समस्त पदार्थ का तथा मोक्ष का कारण या चतुर्गति भ्रमण रूप संसार दुःख का नाश करने वाला, लोक का हित करने वाला, उपमा रहित पंच-परमेष्ठी-मंत्र मेरे हृदय में सदा के लिए एकाग्रता पूर्वक बना रहे।

पंचपदं भवभवदोळ्, संचित पापमने केडिसलाक्कुममोघं।
पंचमगति गिर दोय्गुं-पंचपदाक्षरद महिमे साधारणमे॥

पंच परमेष्ठियों का यह पद णमोकार मन्त्र अनन्तानन्त जन्मों में उपार्जन किये हुए सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाला है। अन्त में मोक्ष गति अर्थात् पंचम गति को प्राप्त कराने वाला है। इसलिए पंच परमेष्ठी के मंत्र की महिमा साधारण नहीं है।

मारि रिपु वन्हि जल नृप-चोर रुजा घोर दुःखमं पिंगिसुवी।
सारायुत पंचपदव, न्नेरिदमक्केमगे मुक्ति यप्पं नेवरं॥

महामारी, शत्रु, अग्नि, पानी, राजभय, चोरभय आदि अत्यन्त घोर दुःख का नाश करने वाला सारभूत पंचपद हमको मोक्ष प्राप्त होने तक हमारे हृदय में स्थिर होकर रहे।

भोंकने कळेगुं भव दुः पंक मनुग्राहि शाकिनी ग्रहभूता।
तंक मनसुरु पिशाचा, शंके यनखिळेक मंगळमं पंचपदं॥

यह पंच नमस्कार मंत्र संसार रूपी कीचड़ को शीघ्रता से नाश करने वाला है। शाकिनी, ग्रह, भूतों के आतंक को तथा राक्षस, पिशाचिनियों के भय को नाश करने वाला है। समस्त मंत्रों का मुख्य अधिपति यह पंच नमस्कार मंत्र है।

आपोत्तुं सद्भक्तियों ळी पंचपदाक्षरंगळं जपिसुवं।
गापोत्तु भवतापं-पापमुं नेरे केट्टु मुक्तियेक्कु ममोघं॥

जो भव्यजीव सदा सद्भक्ति से इस पंच परमेष्ठी के मंत्र का जाप करते हैं, उनकी समस्त आपत्ति, संसार के संताप तथा पाप नष्ट हो जाते हैं और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मंगळ कारण पंच पदंगळनपवर्ग विरचित सोपा।
नंगळ नक्षय मंत्र पदंगळ नोदुतू नेरैय्य निश्चल मतियिं॥

समस्त सुखको देने का कारण तथा अविनश्वर मोक्ष रूपी महल पर चढ़ने के लिए सोपान के समान इस महान पंच नमस्कार मंत्र का अत्यन्त स्थिर भाव से जप करना चाहिए।

बलवदभुत पिशाच राक्षस विषं व्याळ्वाधयुं पिंगिक्कुं।
दळ्ियुक्कुं रिपुराज चोर भयमं दुःखाग्र शोकं गळं॥
गळ्ियुक्कं घळ्ियुक्कुनल्ल दशयिं नोळपं जगन्मुख्यमं।
मळमि पंचगुरुस्तवं शुभकृतिं प्रत्युहविध्वंसनं॥

इस पंच परमेष्ठी के स्मरण करने से अत्यन्त बलवान भूत, पिशाच राक्षस, सर्प आदि की बाधा दूर होती है और शत्रु भय, राज्य भय, आदि दुःख का नाश होता है और संसारी जीवों को इसका ध्यान करने से सब तरह का मंगल होता है।

त्रैलोक्यक्षोभ मंत्रं त्रिजगदधिप कृत पंचकल्याण लक्ष्मी।
साम्राज्याकर्षणमंत्रं रिरुपमं परमश्रीवघु वश्यमंत्रं॥
वाक्सोमाह्वानमंत्रं त्रिभुवनजनसम्मोहन मंत्रं।
जिह्वाग्रे संततं पंच गुरु नमस्कार मंत्रं ममास्तु॥

यह पंच नमस्कार मंत्र तीन लोक को कम्पायमान करने वाला है। और यह तीन लोक में अभ्युदय रूप गर्भावतरण जन्माभिषेक, दीक्षा कल्याणक रूप सम्पत्ति को देने वाला है, स्वाधीन कर देने वाला है, उपमा रहित है,

उत्कृष्ट है, ऐसा यह मंत्र मोक्ष-लक्ष्मी को वशीभूत करने वाला है। ज्ञान रूपी चन्द्रमा का उदय करने वाला है। तीन लोक के जीवों को मोहित करने वाला है। ऐसा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु रूप पंच गुरु का नमस्कार मंत्र मेरी जिह्वा के अग्रभाग पर सदा रहे।

घणकर्मद्विधिमारणं प्रबर मिथ्यात्वोग्रहोच्चाटनम्।
कुणियाशीर्विष निर्विषीकरण मापापास्रव स्तंभनं॥
विनुताहिन्द्रसुरेन्द्र मुक्तिललना सम्मोहनं भारती।
वनितावत्समिदल्ते पंचपरमेष्ठि नाम मंत्राक्षरम्॥

यह पंच परमेष्ठी मंत्र महा कठिन कर्म का नाश करने वाला है। प्रबल मिथ्यात्व ग्रह को भगाने वाला है। आशीविष नामक सर्प के विष को निर्विष करने वाला है। पाप रूपी दुर्मार्ग को बन्द करने वाला है। श्रेष्ठ धरणेन्द्र, देवेन्द्र की पदवी को प्राप्त कराने वाला है। मोक्षलक्ष्मी को मोहित करने वाला है। सरस्वती को वश करने वाला है। इस णमोकार मंत्र की महिमा अचिंत्य है। इसके वर्णन करने में गणधर आदि भी थक जाते हैं। इसलिए मैं इसका वर्णन कैसे कर सकता हूँ। इसलिए मैंने इसका संक्षेप में वर्णन किया है।

आचार्य श्री उमास्वामी विरचित
णमोकार मंत्र का माहात्म्य

विश्लिष्यन् घनकर्मराशिमशनिः संसार भूमीभूतः
स्वर्निर्वाणपुरप्रवेशगमने, निःप्रत्यवायः सतां।
मोहान्धावटसंकटे निपततां, हस्तावलम्बोऽर्हतां
पायान्नः स चराचरस्य जगतः संजीवनो मन्त्रराट्॥

अर्थ—अर्हंत आदि पंच परमेष्ठियों का णमोकार मन्त्रराज ज्ञानावरण आदि कर्मसमूह को आत्मा से हटाने वाला है, अतएव संसार-रूपी पर्वत को तोड़ने के लिए वज्र के समान है। सत्पुरुषों को स्वर्ग-मोक्ष जाने में सहायक है। मोहरूपी अन्धकूप में गिरे हुये प्राणियों को उससे बाहर निकालने के लिये हस्तावलंबन (हाथ के सहारे) के समान है, चर (त्रस) और अचर (पृथ्वी, वनस्पति आदि स्थावर) जगत को जीवनदाता है, ऐसा णमोकार मंत्र हमारी रक्षा करे॥1॥

एकत्र पंचगुरुमंत्रपदाक्षराणि, विश्वत्रयं पुनरनन्तगुणं परत्र।
यो धारयत्किल तुलानुगतं तथापि, बंदे महा गुरुतरं परमेष्ठिमन्त्रं ॥2॥

अर्थ—यदि कोई व्यक्ति एक ओर पंच परमेष्ठी के णमोकार मंत्र के पद-अक्षरों को और दूसरी ओर अनन्त गुणात्मक तीन लोकों को रखकर तराजू से तुलना करे तो भी वह णमोकार मन्त्र को अधिक वजनदार (भारी) अनुभव करेगा। मैं उस महान गौरवशाली णमोकार मंत्र को नमस्कार करता हूँ॥2॥

ये केचनापि सुषमाद्यर का अनंता उत्सर्पिणीप्रभृतयः प्रययुर्विवर्त्ताः।
तेष्वायतं परतरं प्रथितं पुरापि, लब्ध्वैनमेव हि गताः शिवमत्र लोकाः ॥3॥

अर्थ—उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि के जो सुषमा, दुःषमा आदि अनन्त युग पहले व्यतीत हो चुके हैं, उनमें भी यह णमोकार मंत्र सबसे अधिक महत्वशाली प्रसिद्ध हुआ है। जितने जीव आज तक मोक्ष गये हैं, वे सब इसको प्राप्त करके ही गये हैं॥3॥

उतिष्ठन्निपतञ्चलन्नपि धरा-पीठे लुठन् वास्मर
ञ्जाग्रद्वा प्रहसन् स्वपन्नपि वने विभ्यन्निषीदन्नपि
गच्छत् वर्त्मनि वेश्मनि प्रतिपदं, कर्म प्रकुर्वन्नपि,
यः पंचप्रभुमंत्रमेकमनिशं किं तस्य नो वांच्छितम्॥4॥

अर्थ—जो व्यक्ति उठते हुये, गिरते हुये, चलते हुये, पृथ्वी तल पर लोटते लुढ़कते हुये, सोते हुए, हँसते हुये, वन में डरते हुये, बैठते, मार्ग में चलते, घर में रहते, कोई भी कार्य करते हुए, पग-पग पर सदा णमोकार मंत्र का स्मरण करता है, उसकी सभी इच्छायें पूर्ण होती हैं॥4॥

संग्रामसागरकरीन्द्रभुजंगसिंह-दुर्व्याधिबन्हिरिपुबंधनसंभवानि।
चौरग्रहभ्रमनिशाचर शाकिनीनां नश्यन्ति पंचपरमेष्ठिपदैर्भयानि॥5॥

अर्थ—णमोकार मंत्र जपने से युद्ध, समुद्र, गजराज (हाथी), सर्प, सिहं, भयानक रोग, अग्नि, शत्रु, बन्धन (जेल आदि) का तथा चोर, दुष्ट ग्रह, राक्षस, चुड़ैल का भय दूर हो जाता है॥5॥

यो लक्षं जिनलक्षबद्धहृदयः, सुव्यक्तवर्णक्रमम्

श्रद्धावान्विजितेन्द्रियो भवहरं, मन्त्रं जपेच्छावकः
पुष्पैः श्वेतसुगन्धिभिः सुविधिना, लक्षप्रमाणैरमुम्
यः संपूजयते स विश्वमहितस्तीर्थाधिनाथो भवेत् ॥6॥

अर्थ—जो जितेन्द्रिय श्रद्धालु श्रावक हृदय में जिनेन्द्र भगवान का लक्ष्य रख कर स्पष्ट शुद्ध उच्चारण सहित णमोकार मंत्र को एक लाख बार जपता है तथा विधिपूर्वक णमोकार मंत्र को शुद्ध स्पष्ट पढ़-पढ़कर एक लाख सुगन्धित सफेद फूल चढ़ाता है, वह जगत्पूज्य तीर्थङ्कर पद प्राप्त करता है ॥6॥

इन्दुर्दिवाकरतया रविरिंदुरुपः पातालमंबर मिला सुरलोक एव।
किं जल्पितेन बहुना भुवनत्रयेपि यन्नाम तन्न विषमं च समं च तस्मात् ॥7॥

अर्थ—णमोकार मन्त्र के प्रभाव से चंद्रमा सूर्य के समान, सूर्य चन्द्रमा की तरह, पाताल आकाश के समान और पृथ्वी स्वर्ग के समान हो जाती है। बहुत क्या कहें, तीन लोक में ऐसी कोई भी विषम (दुखदायक-अनिष्ट) वस्तु नहीं जो णमोकार मन्त्र के प्रभाव से सम (सुखदायक-इष्ट) न हो जाय ॥7॥

जग्मुर्जिनास्तदपवर्गपदं तदैव, विश्वं वराकमिदमत्र कथं विनास्मात्।
तत्सर्वलोकभवनोद्धरणाय धीरै, र्मंत्रात्मकं निजवपुर्निहिंत तदत्र ॥8॥

अर्थ—कषाय-विजेता योगी तब ही मुक्ति-पद प्राप्त कर सके, जब कि उन धीर-वीरों ने समस्त जगत् का उद्धार करने के लिए अपना शरीर मंत्र रूप कर दिया। इसके बिना बेचारा (संसार) किस तरह कल्याण प्राप्त करता? यानी साधु आदि परमेष्ठी णमोकार मन्त्र के ध्यान से मुक्त होते हैं। तथा उनका पाँच परमेष्ठी रूप होना इस णमोकार मंत्र का मूल आधार है ॥8॥

हिंसावाननृतप्रियः परधनाहर्ता परस्त्रीरतः।
किंचान्येष्वपि लोकगर्हितमतिः पापेषु गाढोद्यतः।
मन्त्रेशं सपदि स्मरेच्च सततं, प्राणात्यये सर्वदा।
दुःकर्माहितदुर्गतिक्षतचयः स्वर्गी भवेन्मानवः ॥9॥

अर्थ—जो मनुष्य हिंसा, असत्यभाषण, चोरी, पर-स्त्री सेवन करने वाला हो तथा लोकनिंदित होकर अन्य महान पापकर्मों में तत्पर रहता हो वह

यदि निरंतर सदा णमोकार मंत्र का स्मरण करता रहे तो कुकर्मों से उपार्जित अपनी नरक आदि दुर्गति को बदलकर मरने पर देत गति प्राप्त करता है।।9।।

अयं धर्मः श्रेयान्नयमति च देवो जिनपति-
र्व्रतं चैष श्रीमानयमपि तपः सर्वफलदं।
किमन्यैर्वाग्जालैर्बहुभिरतिसंसार - जलधिः,
नमस्कारस्तत्किं यदिह शुभरूपो न भवति॥10॥

अर्थ—यह पंच नमस्कार मन्त्र ही कल्याणकारी है, यह मन्त्र ही जिनेन्द्र भगवान रूप है, यह मन्त्र समस्त शुभ फलदायक व्रत तप रूपहै। दूसरी बहुत सी बातें करने से क्या लाभ है? संक्षेप में यों समझ लीजिये कि संसार में यह णमोकार मंत्र ऐसा महत्वशाली है जिसके प्रभाव से ऐसी कोई चीज नहीं जो शुभ न हो सके॥10॥

स्वपन् जागृत्तिष्ठन्नथ पथि चलन् वेश्मनि स्खलन्
भ्रमन् क्लिश्यन् माद्यन् वनगिरिसमुद्रेष्वतरन्।
नमस्कागन् पंच स्मृतिखननिखातानिव सदा
प्रशस्तो विन्यस्तान्निव वहति यः सोऽत्र सुकृती॥11॥

अर्थ—जो मनुष्य सोते, जागते, मार्ग में चलते, घर में लड़खड़ाते, घूमते, खेदखिन्न होते, उन्मत्त होते, वन पर्वत में चलते, समुद्र में तैरते हुए, यानी प्रत्येक दशा में नमस्कार मंत्र को अपने हृदय पटल पर (स्मृति में) पाषाण प्रशस्ति में उत्कीर्ण (खुदे हुये) अक्षरों के समान धारण किये रहता है, वह पुण्यवान है॥11॥

दुःखे सुखे भयस्थाने, पथि दुर्गे रणेऽपि वा
श्रीपंचगुरुमन्त्रस्य, पाठः कार्यः पदे पदे॥12॥

अर्थ—मनुष्य को दुख में, सुख में भयानक स्थान में, मार्ग में, वन में, युद्ध में पग-पग पर पंच नमस्कार मंत्र का पाठ करना चाहिये॥12॥

इस प्रकार इस मंत्र को भव्य जीवों को सदा अपने हृदय में रुचिपूर्वक स्मरण करना चाहिए। यह पदस्थ ध्यान कर्म क्षय करने के लिये मूल कारण है और ये ही ध्यान शुक्ल ध्यान के लिये निमित्त कारण है। ऐसा समझ कर भव्य जीवों को सदा इसका स्मरण करना चाहिए। इस प्रकार धर्म ध्यान का संक्षेप

में वर्णन किया गया। इससे पाप रूपी मैल धुलकर आत्मा अपने मूल स्वरूप को प्राप्त होता है। इस प्रकार से इस मंत्र द्वारा धर्म ध्यान का वर्णन किया।

योगी को सदा इसी तरह अपना भाव बनाये रखने के लिए उपदेश देते हैं–

एंदिन्तु वगेद वगेयिं दंदुगमं विट्टु शुद्ध भावनेयिदं।
कुंददे नोळ्पुदु निच्चं संदेहंवडदे निन्नचितदे निन्नं ॥6॥

इस प्रकार की भावना से भ्रम-रहित, संदेह-रहित पर-वस्तु की आकांक्षा से रहित अपने मन में किसी प्रकार की मलिनता नहीं आने पाती। हमेशा अपने निजात्म स्वरूप को देखने से आत्मा संसार रूपी कीचड़ से निकलकर अपने मूल स्वरूप में आ सकता है। इसी का नाम मोक्ष है। इसी का नाम सिद्ध परमात्मा का स्वरूप है। इसके सिवाय कोई और संसार में सुख, शान्ति को देने वाला नहीं है।

यह भावना इस प्रकार है:–

भावीसु भावीसु भव्य मनोवचन शरीरं दक्षनिन्नं भेदसि चिं।
चिद्‌भावमने इळिदु निच्चं भावनेन्दनदळ्कुळ भवनाशं ॥

मैं रागद्वेष मोह क्रोध मान माया लोभ, पंचेन्द्रियों के विषय व्यापार मन, वचन, काय, भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नोकर्म, ख्याति, लाभ, पूजा, माया, मिथ्यात्व निदान शल्यत्रय दण्डत्रयादि विभाव परिणामों से रहित हूँ। मैं नित्य निरंजन शुद्धात्म, श्रद्धा, ज्ञान अनुष्ठान रूप अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुई वीतराग निजानन्द सुखानुभूति स्वरूप हूँ। निज शुद्धात्म-ज्ञान ही मेरा मुख्य स्वरूप है। वही मैं हूँ। मैं सहज शुद्ध पारिणामिक स्वभाव से युक्त हूँ। मैं चैतन्यरत्नाकर स्वरूप हूँ, मैं चैतन्य अमर रसायन स्वरूप हूँ, मैं चैतन्य चित्स्वरूप हूँ, मैं सहज शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव से युक्त हूँ। मैं चैतन्य कल्याण वृक्ष स्वरूप हूँ, मैं ज्ञान-पुंज स्वरूप हूँ, मैं ज्ञान-ज्योति स्वरूप हूँ, मैं ज्ञानामृत स्वरूप हूँ, मैं ज्ञानावरण के अस्त स्वरूप हूँ, मैं ज्ञानार्णव स्वरूप हूँ, मैं देव-स्वरूप वाला हूँ, मैं निर्बन्ध स्वरूप हूँ, मैं अनन्त ज्ञान स्वरूप वाला हूँ, मैं अनन्त दर्शन स्वरूप वाला हूँ, मैं अनन्त सुख स्वरूप हूँ, मैं अनन्त शक्ति स्वरूप वाला हूँ, मैं परमानन्द स्वरूप वाला हूँ, मैं ज्ञानानन्द स्वरूप

वाला हूँ, मैं निजानन्द स्वरूप वाला हूँ, मैं नित्यनिरंजन स्वरूप वाला हूँ, मैं सहज सुखानन्द स्वरूप वाला हूँ, मैं नित्यानन्द स्वरूप वाला हूँ, मैं शुद्धात्म स्वरूप वाला हूँ, मैं परम ज्योति स्वरूप वाला हूँ, मैं स्वात्मोपलब्धि-स्वरूप वाला हूँ, मैं सिद्धात्मानुभूति स्वरूप वाला हूँ, मैं सिद्धात्म संविहित स्वरुप वाला हूँ, मैं भूतार्थ स्वरुप वाला हूँ, मैं परमात्म स्वरुप वाला हूँ। मैं निश्चय पंचाचार स्वरूप वाला हूँ, मैं समयसार स्वरूप वाला हूँ, मैं अध्यात्मसार स्वरूप वाला हूँ, मैं परम मंगल स्वरूप वाला हूँ, मैं परम शरण वाला हूँ, मैं केवलज्ञानोत्पत्ति कारण स्वरूप वाला हूँ, मैं सकल कर्म क्षय कारण स्वरूप वाला हूँ, मैं परम अद्वैत स्वरूप वाला हूँ, मैं शुद्धोपयोग स्वरूप वाला हूँ, मैं निश्चय षडावश्यक स्वरूप वाला हूँ, मैं परम स्वाध्याय स्वरूप वाला हूँ, मैं परम समाधि स्वरूप वाला हूँ, मैं परम स्वार्थ स्वरूप वाला हूँ।

मैं परम भेद-ज्ञान स्वरूप हूँ, मैं परम संवेदन स्वरूप हूँ, मैं परम परमरसी भाव स्वरूप हूँ, मैं क्षायिक सम्यक्त्व स्वरूप हूँ, मैं केवल ज्ञान स्वरूप हूँ, मैं केवल दर्शन स्वरूप हूँ, मैं अनन्त वीर्य स्वरूप हूँ, मैं परम सूक्ष्म स्वरूप हूँ, मैं अवगाहन स्वरूप हूँ, मैं अगुरुलघु हूँ, मैं अव्याबाध स्वरूप हूँ, मैं अष्टविध कर्म रहित हूँ, मैं निरंजन स्वरूप हूँ, मैं नित्य अष्टगुण सहित हूँ, मैं कृतकृत्य हूँ, मैं लोकाग्रवासी हूँ, मैं अनुपम हूँ, मैं अचिन्त्य हूँ, मैं अतर्क्य हूँ, मैं अप्रमेय-स्वरूप हूँ, मैं अतिशय-स्वरूप हूँ, मैं अक्षय-स्वरूप हूँ, मैं शाश्वत हूँ, मैं सिद्ध स्वरूप हूँ, इस प्रकार अपने ह्दय में एकाग्र होकर जगत्त्रय तथा कालत्रय में कृत कारित अनुमोदन से तथा निश्चय नय से समस्त भव्यात्माओं को निजात्म तत्व को सविकल्प निर्विकल्प रूप से भावना करना यह निश्चय सुखदायक धर्म ध्यान है। इस प्रकार हे योगी ! निरंतर अपने ह्दय में एकाग्र होकर इस तरह से भावना करके तू अपनी आत्मा को कर्म कीचड़ से निकाल कर सुखमय आनन्दमय हो। इस प्रकार भावना करने का उपदेश श्रीगुरुदेव ने दिया है।

इन्द्रिय-विषय सम्बन्धी व्यासंग को छोड़े बिना निजात्मा की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है इसलिए पर वस्तु के व्यासंग को छोड़ने का उपदेश देते हैं–

व्यासंगदोळेतरोळं-सूसदे मनमेंब रत्नमं जिनवचना-
भ्यास दोळ्मात्मतत्वाभ्यासदोळ्ं मडगलरि वोडातने धन्यं ॥7 ॥

हे योगिन्! चित्त-रूपी रत्न को किसी अन्य व्यासंग में मत जाने दे। जो हमेशा जिन-वचन के अभ्यास में, आत्म-तत्व के अभ्यास में स्थिर हो करके केवल अपने आत्म-तत्त्व का ही अभ्यास करता है वही जीव धन्य है, उसको ही रत्नत्रय की प्राप्ति हो सकती है॥7॥

विशेषार्थ– इस श्लोक में ग्रन्थकार ने यह बतलाया है कि जब तक अज्ञानी प्राणी पर वस्तु के व्यासंग में अपने मन को लगाता है, तब तक शुद्धात्म-तत्व की प्राप्ति उसके लिए अत्यन्त दूर हैं अनादि काल से पर-वस्तु के व्यासंग से यह आत्मा अपने व्यासंग से रहित होकर पर के व्यासंग में पड़कर अनेक प्रकार के दुःख उठा रहा है। जब तक पर-वस्तु आत्मा के साथ लगी रहेगी, तब तक इस जीव को आत्म-तत्त्व की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिए आचार्य ने पर वस्तु के व्यासंग को छोड़ने का उपदेश दिया है। हे आत्मन् अगर तू शीघ्र ही संसार रूपी कारागार से या कुटुम्बरूपी बन्धन से छुटकारा पाना चाहता है तो शीघ्र ही अपने अन्दर आप ही विचार करके उस बन्धन को अपने मन के द्वारा दूर कर। जब तक मन के द्वारा पर-संबंध दूर नहीं होगा तब तक तुझे आत्म सुख की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे निर्बुद्धि आत्मन्! संसार के विलास में मग्न होने के कारण तू अपने निज स्वरूप को बिलकुल भूल गया है। पूर्व में किये हुए पुण्य के योग से धन, उत्तम कुल, नीरोग-शरीर, मन आदि तुझे तेरे अनुकूल प्राप्त हुआ है। तू इस दुनिया के भोग-विलास में मग्न होकर मौज कर रहा है। आत्म-शक्ति का भान न होने के कारण तेरा शरीर, मन और वचन पंचेन्द्रिय-विषयों में अटक गया है, परन्तु तू विचार करके देख कि यह विलास क्या है। तू यदि विचार पूर्वक देखे तो यह विलास क्षणिक और नाशवान है। तन, मन की शक्ति इस विषय कषाय में तथा संकल्प विकल्प में लगती जा रही है, इसीलिए तेरी आत्मा शक्ति कमजोर होकर उसी के साथ

उसी के रूप में मिश्रित होकर उसी के अनुसार रमण करती हुए उसी के अनुसार बदल रही है। परन्तु हे आत्मन्! तू विचार कर कि यह भोग-विलास प्रारम्भ में तुझे अच्छे लगते हैं किन्तु अन्त में अनेक प्रकार के दु:ख देने वाले होते हैं। यह ही विलास तुझे अधम, नीच विचार वाला बना देता है। यही तुझे पतित मानव की कोटि में या तिर्यंच की कोटि में पहुँचा देता है। हे आत्मन्! तुझे कहाँ तक कहूँ तू मदोन्मत हुए सांड के समान अपनी सुध बुध को भूल करके पूर्व-जन्म में किये हुए पुण्य के मद से मत्त होकर अहंकार रूपी वृक्ष पर चढ़कर ऊपर को ही देखता है। नीचे देखता ही नहीं। मदोन्मत सांड के सामने अकड़ कर चलता है। इसलिए तुझे सद्गुरु कहते हैं कि हे मूर्ख प्राणी! तुझे दस प्राणों वाले उत्तम मानव पर्याय के महत्व का ज्ञान नहीं है परन्तु तुझे केवल ग्यारहवां प्राण रुपये का ही ज्ञान है। यही ग्यारहवां धनरूपी महाप्राण तुझे भ्रमण का कारण हो रहा है क्योंकि इसी के कारण यह आत्मा अपने स्वरूप से भ्रष्ट होकर इस मानव रत्न का दुरुपयोग कर रहा है।

जो संपत्ति पूर्व जन्म के पुण्य के कारण मिली हुई है वह तेरे सद्विचार, विवेक आदि को नष्ट कर रही है। वह शरीर को अनेक प्रकार की विलासता की तरफ खींचती है। इसलिए तू प्राप्त हुए तन, मन, धन को अपने आत्म कल्याण का साधन न बना कर इन्द्रिय-विषय-वासना की पुष्टि करने का साधन बना रहा है। परन्तु यह नहीं सोचता कि शरीर के साथ आयु पूर्ण होने के बाद पुण्य के निमित्त से मिली हुई पंचेन्द्रिय-विषय-भोग-सामग्री भी यही पर पड़ी रह जाती है। अर्थात् तू जब यहाँ से आयु के अवसान में शरीर को छोड़ कर अन्य गति को प्रयाण करता है उस समय तेरे पीछे वह सामग्री एक कदम भी नहीं जाती है परन्तु अरे मूर्ख! तू उसी को सत्य मान करके हमेशा उसकी प्राप्ति के लिए तरसता है।

तेरी दशा उस हरिण के समान है जो मरीचिका को जल समझ कर उसके पीछे दौड़-दौड़ अपने प्राण को गंवा देता है। इसी तरह से तू इस क्षणिक वस्तु के लिए दौड़ धूप करके अपने प्राण गंवा देता है, अन्त में भव-भव में अनेक दु:ख के साधन बना करके प्राप्त किये हुए मनुष्य पर्याय को खो देता है। इतना होने पर भी तेरी आकुलता बढ़ती जाती है। आकुल

व्याकुल होकर अन्त में मरण को प्राप्त होता है। यही काया माया की परिस्थिति है। उसी को तू सत्य शान्ति का उपाय समझ कर दौड़ धूप करता है परन्तु उसमें सुख का लेश मात्र भी नहीं मिलता है और अन्त में तुझे निराश होना पड़ता हैं इसलिए काया माया के प्रपंच का त्याग करके सुख और शान्ति देने वाले सुदेव, सद्गुरु और सद्धर्म की आराधना करना अत्यन्त आवश्यक है। वह प्रपंच, वह पर-वस्तु क्षणिक है, तुच्छ है, इसमें इतने परिरमण से भी तेरी इच्छा पूर्ण नहीं होती है। इन विषय भोगों से तिल मात्र भी शन्ति नहीं मिलती।

कुछ न होने पर गरीब एक सौ रुपये की इच्छा करता है। सौ रुपया मिलने वह हजार की आशा करता है। हजार की आशा में अनेक प्रकार के व्यापार करता है। हजार की इच्छा के बाद दस हजार की आशा रखता है। दस हजार की इच्छा के बाद धर्म का त्याग कर देता है और धर्म को त्याग करके अनेक प्रकार की दगाबाजी करके पैसा कमाने की दौड़ धूप करता है। सदा असन्तोषी रहता है, फिर करोड़पति बनने की इच्छा करता है। इसके बाद अरबपति होने की इच्छा करता है। उसके लिए अनेक आरम्भ करता है। इस तरह आशा और तृष्णा बढ़ती ही जाती है।

इसके लिए देवता की भी सहायता पाने की इच्छा करता है। मैं किसी देवता की आराधना करूँ तो मेरी इच्छा पूर्ण हो जायेगी। परन्तु अन्त में भाग्यहीन बन कर बैठ जाता है। बिना पुण्य के देवता कुछ नहीं कर सकते। इन्द्र भी आकर हाथ तभी जोड़ता है, जब उसके साथ पुण्य होता है। बिना त्याग के पुण्य मिलना कठिन है। मुझे अन्त में सब कुछ छोड़ना पड़ेगा, यह भावना नहीं रहती। इसको प्राप्त करने के लिए कितना कष्ट उठाता है इसकी कोई मर्यादा नहीं है।

इसलिए कहते हैं कि हे आत्मन्! जिस समय तू कूट कपट करके पंचेन्द्रिय भोग-सामग्री इकट्ठा करता है उसमें मुग्ध होकर उस सामग्री को सार्थक करने की तेरी भावना क्यों नहीं रहती। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि हे भाग्यशाली मानव! हे आत्मन्! आयु-चिन्ता से, परिताप से अनेक प्रकार के उपद्रव, अनेक प्रकार के रोग अशुभ कर्म के उदय से आते रहते है। वे एक दिन भी तुझे सन्तोष पूर्वक बैठने नहीं देते। तू माया में जब अशक्त हो करके

बैठता है तब तुझे अपने आपकी खबर भी नहीं रहती। जब आयु समाप्त होती है तो मन में पश्चाताप करता है, परन्तु अन्त में पश्चाताप करने से क्या होगा। इससे कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

आयु समाप्त होने के समय जो कुछ करना था वह मन में ही रह जाता है। किसी भव में जो काया माया, धन सम्पति आदि संभाल करके इससे जो अपनी आगे की गति को सुधारता है, उसके द्वारा तपश्चर्या, संयमभाव आचार विचार का साधन करके अपने आत्मा की पहचान करता हैं वह भी सफल हो सकता है। मनुष्य पर्याय को छोड़ने के बाद अन्य पर्याय में आत्म-साधन नहीं हो सकता। अन्य भव में, नीच कुल में उत्पन्न होने के कारण आत्म-साधन के लिये हजारों बाधायें आकर खड़ी हो जाती है। अज्ञान से अपना समय बिताना पड़ता है, पराधीन होना पड़ता है। ठीक सुख-दु:ख का भान नहीं रहता, इसलिए वह जीवन पशु पर्याय के समान कहलाता है। इसलिए हे आत्मन्! इस मनुष्य भव से च्युत होने के बाद तुझे अनेक प्रकार का दु:ख भोगना पड़ेगा। इसलिए तुझे यह जो नररत्न मिला हुआ है विवेकपूर्ण विचार करके यदि तू अपने साधन में लगा रहेगा तो तुझे आगे आत्म-शान्ति देने वाली सामग्री अपने अन्दर ही प्राप्त होगी इसलिए धर्म की आराधना कर जिससे आत्मा को दु:ख देने वाला माया का फेर मिट जावे।

जब तक तू काया माया की झंझट में रहेगा तब तक दु:खी ही रहेगा। मन को शुभ कार्य में लगाने का प्रयत्न कर क्योंकि शुभ कार्य करने के लिए इस समय शुभ अवसर है इसलिए प्राप्त किए हुए इस नर-रत्न को वृथा गंवाना ठीक नहीं है। तू खुद ही समझ ले। सत्य उपाय बतलाने वाले तुझे और किसी गति में नहीं मिलेंगे। सत्य उपाय बतलाने वाले तेरे भाग्य के उदय से सद्गुरु मिले हुए हैं। तुझे चिन्ता आदि से छुटकारा पाने के लिए सद्गुरु तुझे बता रहे हैं। इस लक्ष्य से उपयोग-पूर्वक तू सद्गुरु का उपदेश सुन।

जो तू पर-वस्तु के लिए इतना परिश्रम आदि करता है और पेट भर अन्न भी नहीं खाता, यदि इतनी चिन्ता और श्रम अपने आत्म-साधन में थोड़ी देर तक करता रहे तो तेरा चिन्ता जाल नष्ट हो जायेगा और तुझे आत्म-स्वरूप की पहचान हो जायेगी इसलिए तुझे आत्म-साधन करने में कभी भी प्रमाद

करना ठीक नहीं है। इस तरह से मन लगा कर इस शरीर के द्वारा आत्म-साधन करने में पुरुषार्थ करेगा तो तेरे दुःख का द्वार बन्द हो जायेगा।

जगत में क्षणिक सुख की प्राप्ति के लिए तू अनेक प्रकार के खेल-खेल रहा है परन्तु इतने खेल खेलने पर भी अन्त में सुख और शान्ति प्राप्त नहीं की है। इन्द्रिय सुख का गुलाम बना हुआ मनुष्य एक क्षण भी अपने आत्मा की ओर देखने की इच्छा नहीं करता है।

भक्ष्य-अभक्ष्य के आचार-विचार आदि को भूल जाता है। शरीर के पालन पोषण के लिए जितनी मेहनत करता है उतनी मेहनत अपने आत्म साधन के लिए एक क्षण भी नहीं करता। हमेशा पंचेन्द्रिय का गुलाम बना रहता है। अभक्ष्य-भक्षण में हमेशा आसक्त बना रहता है। इसलिए तेरी बुद्धि में मलिनता आती है। अपने आचार विचार कुलाचार को, मानव पर्याय को जब स्मरण नहीं रखता तो तू पशु-क्रिया करता है। तब वे मदिरा मांस आदि अनेक प्रकार के असेव्य पदार्थ सेवन करता है। उससे सद्बुद्धि कहाँ से प्राप्त हो सकती है। इसलिए हे आत्मन्! तू इन विषय-कषाय, विषय-वासना का त्याग कर दे। तू पिशाच-शक्ति और शारीरिक शक्ति को लेकर विषयवासना के पीछे रात दिन दौड़ता रहता है। पंचेन्द्रिय विषय-वासना में रहने के कारण तेरी पुण्य निधि में वृद्धि नहीं होती है, उसमें जावक (खर्च) ज्यादा होकर आवक (आय) कम होती है जिससे अन्त में अनेक प्रकार की विषय-कषाय-वासना से अपने आपको तथा कुटुम्ब को दुःखी करता है। इस प्रकार व्यसन में मुग्ध होकर अगर कोई व्यसन छुड़ाने वाला सद्गुरु मिले तो उससे भी मारपीट के लिए तैयार हो जाता है। व्यसनों से विचार शक्ति नष्ट हो जाती है, तब सद्गुरु का भी उपदेश लागू नहीं होता है क्योंकि वह मदिरा पीने में मस्त होकर गाड़ी मोटर की सैर, सिनेमा आदि में लगा रहता है। कभी शराब पी कर के कहीं मोटर में बैठ कर मोटर चलाता है तो नशे में गाड़ी की टक्कर किसी दूसरी गाड़ी से या पेड़ से हो जाती है और वहीं अपनी आयु को पूर्ण कर देता है। उसी के साथ पूर्व जन्म के पुण्य से प्राप्त किये हुए दुर्लभ मानव भव को भी उसके साथ समाप्त करना पड़ता है। इस प्रकार तू अज्ञानपने से अपनी आयु को पशु के समान नष्ट करता है और अनेक प्रकार के दुःखों

को सहन करता है इसलिए गुरु पर वस्तु का व्यसन छोड़ने का उपदेश देते हैं।

जब तक इस पर विषय वासना का व्यासंग नहीं छूटेगा तब तक तुझे निजात्म-सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। सद्गुरु कहते हैं कि हे आत्मन्! सोच ले ठीक विचार करले कि मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है, मेरा कर्तव्य क्या है। इस मानव भव को प्राप्त करके मुझे क्या करना है। ठीक विचार करने की बुद्धि इस मनुष्य पर्याय में ही है। परन्तु इस सद्बुद्धि को क्षणिक वस्तु की प्राप्ति के विचार में व्यय करके तू अत्यन्त अज्ञान बुद्धि बना हुआ है। जितनी पर वस्तु तूने प्राप्त की हैं उनके विषय में थोड़ा सा विचार कर कि जितना मैंने शरीर संबंधी भी पदार्थ इकट्ठा किया है यह अन्त में मेरे साथ देंगे या नहीं देंगे। देंगे तो कहाँ तक? यह अपनी बुद्धि के द्वारा विचार कर।

उदाहरणार्थ—एक युवक को अपने पूर्व उपार्जित पुण्य से अपने अनुकूल परिवार का समागम प्राप्त हुआ था। उसके ऊपर उसका अत्यन्त प्रेम था। परिवार का उसके ऊपर प्रेम था। यदि उस युवक के माथे में दर्द हो जाता है तो सभी आ करके माथे में हाथ लगा कर बैठ जाते हैं अनेक प्रकार की चिन्ता करते हैं। उनके रोने धोने से या चिन्ता से तेरा लाभ नहीं होता। वे कहते हैं कि तेरे माथे में जो दर्द है उसका मुझे दु:ख है। समस्त पुत्र, स्त्री, माता, पिता तथा अन्य भाई बहिन तेरा दु:ख सुन करके अनेक प्रकार की चिन्ता करते हैं और दु:ख मानते हैं वे सब कहते हैं कि तुम चिन्ता मत करो, तुम चिन्ता करते हो तो हमारे मन में बहुत दु:ख होता है, तुमको जब दु:ख होता है तो हमको भी दु:ख होता हे। इस प्रकार बार-बार कहते हैं अत्यन्त प्रेम करते हैं। मन में इस प्रकार मानते हैं कि इसे पीड़ा थोड़ी हो जाय। स्त्री माता- पिता अनेक प्रकार का विलाप करते हैं क्योंकि उनका प्रेम गाढ़ा है। उतना अन्य का नहीं है। परन्तु वह भी उसको देख करके दुखी होते हैं। इस प्रकार उस युवक का जितना अधिक कुटुम्ब होता है, उतना ही मोह भी बढ़ता है।

आचार्य—कहते हैं—अरे भाई! तुझे खबर नहीं कि जितना परिवार है वह केवल आश्वासन देने वाला है। परन्तु जिस समय कष्ट आकर उपस्थित होता है तब कोई लेश मात्र भी भागीदार नहीं होता। इस प्रकार संसार का साक्षात् अनुभव है, प्रत्येक व्यक्ति को भी इसका अनुभव है। मोह माया में

बंधन के सिवाय, कोई भी संसार से मुक्त करने वाला या आत्म-कल्याण का मार्ग बताने वाला नहीं है। अनेक प्रकार की आधि व्याधि विडम्बना मात्र है, वह।

आठों कर्मों से जकड़ा हुआ यह प्राणी पूर्व जन्म में किये हुए पाप और पुण्य के अनुसार दु:ख-सुख भोगता है। जब अनेक प्रकार की बाधा होती है तो उसमें बंटवारा करने वाला कोई नहीं होता, अपने को ही भोगनी पड़ती है। इसलिए हे आत्मन्! इस मोह को हटाने का प्रयास कर और आत्मिक गुणों में प्रेम रख। आत्मिक गुणों में प्रेम रखने से व्याधि दूर भागती है। और अनन्त गुण प्रकट होते हैं। इस प्रकार का विचार-विवेक जिस मूढ़ प्राणी के अन्दर नहीं आता है उसको आत्म तत्व का ज्ञान कहाँ से आ सकता है।

परिवार केवल अपने पोषण के लिए, अपने सुख के लिए ही प्रेम प्रयत्न करता है और इसी लिए तब चिन्तवन करते हैं कि यह मर न जाये, यह जितने दिन जीवे उतने दिन हमें आराम मिलेगा।

वह युवक एक दिन गुरु के दर्शन के लिए जाता है और दर्शन करके जब बैठ जाता है। तो सद्गुरु पूछते हैं— बेटा! बहुत दिनों से तू यहाँ नहीं आया, कहाँ गया था। युवक ने कहा, महाराज! क्या करूँ मेरे माता पिता स्त्री का मुझसे इतना प्रेम हैं कि वे मुझे बाहर नहीं जाने देते।

गुरु ने कहा—तू पहले रोज आता था। परन्तु अब क्या हो गया? तब युवक उत्तर देता है कि मेरा पुत्र पत्नी आदि मेरे साथ बहुत प्रेम रखते हैं। थोड़ा भी मैं यदि जाता हूँ तो वे मेरी बहुत चिन्ता करते हैं, कष्ट का अनुभव करते है, इसलिए मैं उनके पालन पोषण में आसक्त रहता हूँ। अत: गुरु देव! मैं आपके पास नहीं आ सका। यह मेरा दुर्भागय है।

इस बात को सुन करके सद्गुरु कहने लगे कि अरे! तुझे जब दु:ख होता है तो क्या तेरा परिवार दु:खी होता है। अगर असाता कर्म का उदय होने पर तुझे पीड़ा हो तो उस दर्द में भी कोई भागीदार हो सकता है, यह भी कभी तूने विचार किया? उसमें भाग लेने के लिए कोई भी तैयार नहीं होगा। सभी

स्वार्थ के कारण दुःखी हाते हैं। तुम उनका पालन पोषण करना परन्तु धर्म की आराधना न भूलना, यह ख्याल रखो। अष्टमी चौदस को तो मंदिर में अवश्य आया करो। वहाँ गुरुजनों का भाषण सुना करो। मैंने तुझे मंदिर आते नहीं देखा।

युवक ने कहा कि मैं परिवार के राग के कारण आने को असमर्थ हूँ।

गुरु ने कहा—यह तेरी भूल हैं यह मोह ममता का प्रताप है।

युवक बोला—महाराज! मुझे फुर्सत नहीं मिलती।

गुरु ने कहा—परिवार का तू पालन पोषण करता है उससे तुझे क्या लाभ है। जब तेरे ऊपर आपत्ति आवेगी तो उसमें कोई भी साथ न देगा।

तब वह युवक कहता है कि वे मेरे लिए अपने प्राण देने को तैयार हैं, इस लिए मैं उनके मोह को कैसे त्यागूँ। अगर मुझे व्याधि होती है तो वे बहुत चिन्तित होते हैं।

गुरु ने कहा—ठीक है तेरा यह कहना या मानना मोह के कारण है। अगर तुझे उनकी परीक्षा करनी है तो मैं एक उपाय बताता हूँ उससे उनकी परीक्षा करना।

तब गुरु के वचन सुन करके युवक परीक्षा लेने को तैयार हो गया।

गुरु ने कहा—अच्छा, कुछ दिन तुम मेरे पास रोज आया करो मैं प्राणायाम का अभ्यास कराऊँगा। उस युवक ने गुरु जी की बात मान ली और उनके पास प्रतिदिन आता रहा। गुरु ने उसे प्राणायाम का अभ्यास कराया। इस प्रकार करते करते उसके मस्तिष्क में श्वास चार पांच घंटे तक रुकने लगा। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करा करके उसे घर भेज दिया। तथा गुरु ने कहा कि बेटा अब जा करके मेरे प्राणायाम का प्रयोग करो। गुरु के कहे अनुसार वह युवक अपने घर में जा करके दर्द का बहना करके लेट जाता है। सोते ही सभी कुटुम्बी आकर उस घेर लेते हैं और पूछते हैं क्या हो गया। किन्तु वह चुपचाप पड़ा रहा तो वे बहुत चिन्ता करने लगे। अनेक उपचार करने लगे परन्त वह मृत की भांति पड़ा रहा। वे लोग अनेक प्रकार का शोक करने लगे। इस प्रकार जैसे गुरुदेव ने कहा था, उसी प्रकार किया। तब गुरु ने आकर पूछा—तुम क्यों रोते हो। परिवारी जनों ने कहा— वह बोलता ही नहीं,

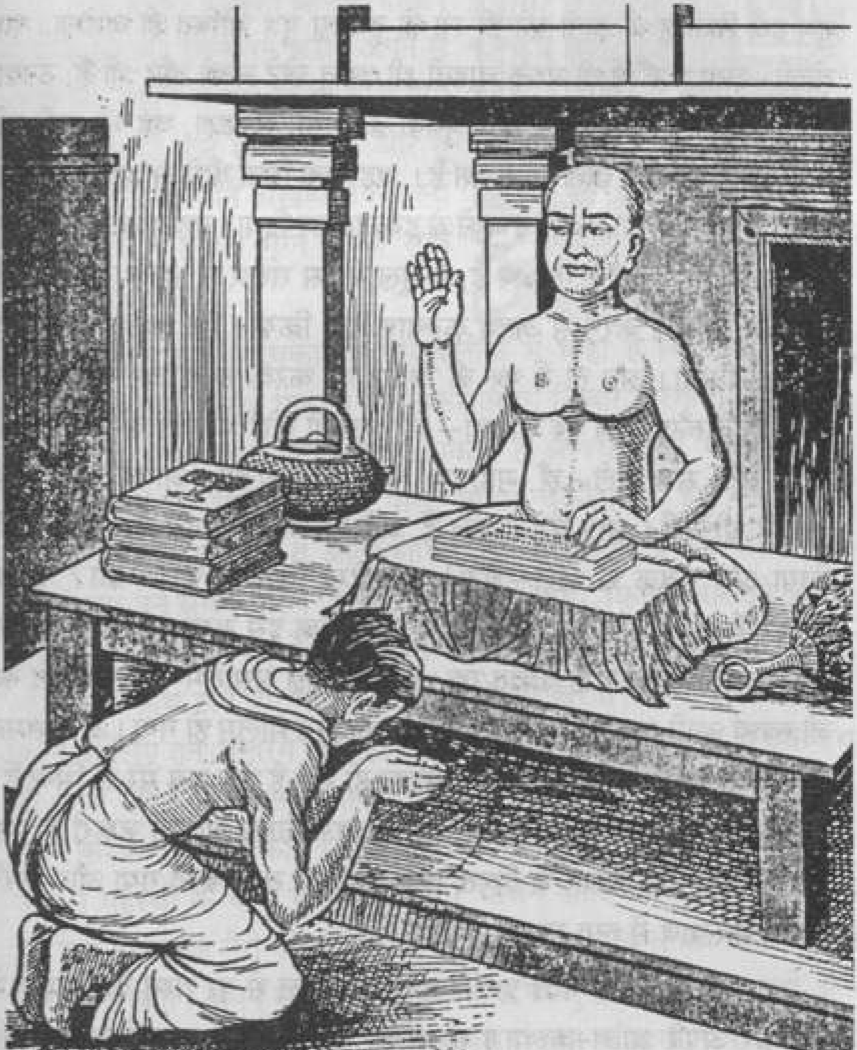

उपचार भी व्यर्थ गये। तब गुरु ने कहा—भाई! गिलास भर पानी देता हूँ। एक गिलास लाओ। हमारे मंत्र के प्रभाव से वह जीवित हो जायेगा। मंत्र पढ़ कर हम जो पानी देंगे, वह तुम में से कोई पी लेना। जो पीयेगा वह मर जायेगा किन्तु यह जीवित हो जायेगा। तुममें से ऐसा करने को कौन तैयार है? मर जाने के भय से कोई नहीं बोला क्योंकि सभी की भावना जीवित रहने की है। कोई भी अपने सम्बन्धी के लिए मरने को तैयार नहीं है। तब माता से कहा कि

तुम इस गिलास के पानी को पी लो तो तुम्हारा पुत्र जीवित हो जायेगा। वह बोली—क्या करूँ मैं तो मरना चाहती थी परन्तु छोटे बच्चे और भी हैं, उनका पालन पोषण कौन करेगा। फिर युवक की पत्नी से कहा, वह भी मरने को तैयार नही हुई। मेरा छोटा सा बच्चा है।, वह माता बिना कैसे रह सकता है इसी प्रकार परिवार के सभी जनों ने मरने से इनकार कर दिया। वह युवक पड़ा-पड़ा सब सुनता रहा। यह सभी भ्रम है, मैं भूल में इस संसार में भटक रहा हूँ। मैंने मोह का त्याग न करने से आत्म कल्याण नहीं किया। मैंने धर्म का आचरण भी नहीं किया। अब तो मैं गुरु के निकट जा करके उनके चरणों में अपना कल्याण करूँगा। तब गुरु ने कहा—अरे, तुम तो कोई भी पीने को तैयार नहीं, मैं पी लूँ? सब बोले—हाँ, महाराज! आप पी लीजिए। आपके आगे पीछे कोई है भी नहीं। आप बड़े दयालु हैं, बड़े उपकारी हैं। तब गुरु ने पानी पी लिया और युवक से बोले—बेटा! उठ। देख लिया न संसार को? युवक उठकर बैठता है और कहता है कि मैं आज तक इस संसार के मोह में फंस करके आत्म कल्याण से वंचित रहा। इसलिए मुझे ससार में परिवार आदि का जो स्वार्थ अभी तक मालूम नहीं हुआ था वह अब मालूम हो गया। अन्त समय में मेरा कोई भी साथ नहीं देगा। ये आत्मा ही मेरी है शेष सब मेरे से भिन्न हैं। मुझे आत्म-कल्याण के लिए अब चारित्र धारण करना अत्यन्त जरूरी है। यह कह कर एक दम संसार से विरक्त होकर गुरु के साथ चला गया और अपने आत्मा कल्याण में लग गया।

इस प्रकार हे भव्य प्राणी! तू अनादिकाल से पर वस्तु के व्यासंग में पड़ कर अपने आत्म-कल्यागा से वंचित रहा। यदि तू सम्पूर्ण व्यासंग को छोड़ कर अपने आत्म व्यासंग में एक रस होकर अपने को अपने अन्दर ही अन्वेषण करेगा तो मुझे अपने अन्दर ही अपनी प्राप्ति होगी।

आचार्य कहते हैं कि हे जीव! अब तू इस व्यासंग को छोड़कर अपने आपको देख। तुझे अपने अन्दर ही अखण्ड सुख और शान्ति मिलेगी।

निंन्नने नोडले मुनिषा, निन्नं निन्नदं काण्बे कंडंडे किडुगुं।
मुन्निन नेरपिद दुरितं, तन्निदं ताने पोकुमेंबुदमोघं॥४॥

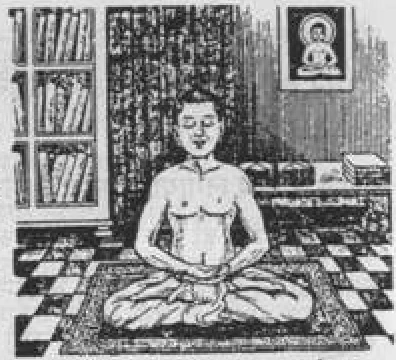

हे योगी! आपको आप ही देखो। आप मे आपका चिन्तवन करो। अपने में अपने को देखने से पूर्व किया हुआ पाप अपने आप ही नष्ट हो जायेगा। और तू निराबाध होकर अपने अखण्ड निजानन्द सुख सागर में हमेशा मग्न होकर सुख शान्ति को पायेगा।

विशेषार्थ—ग्रंथकार ने इस श्लोक में कहा है कि सम्पूर्ण बाह्य परिग्रह को त्याग करके एकान्त में बैठकर आत्म विचार करेगा तो सुख और शान्ति तुझे अपने अन्दर ही प्राप्त हो सकती है अन्यथा कहीं भी नहीं मिल सकती है। ''तुझ आहे तुज पासी परितू जागात चुकलासि'' इस कहावत के अनुसार अनादि काल से तू आत्म साधन के लिए कितने प्रयास कर रहा है, कितने बार तूने संयम धारण किया, कितनी बार छोड़ा, कितनी बार तूने कठिन तप किया, महीने दो महीने का उपवास किया और शरीर कृश किया। परन्तु आत्मा के साथ लगे हुए कषाय भाव को कृश करके आत्मा से उसे भिन्न करने के लिए तूने अन्तरंग तप नहीं किया। किसी महिला के नाक में एक नथ थीं। उस महिला ने स्नान के समय उसे उतार कर अपने गले में बांध लिया। स्नान करके वह अन्य काम में व्यस्त हो गई, उस को उसका स्मरण नहीं रहा। बाद में गृहस्थी के काम से निवृत्त होकर भोजन आदि करके मुँह धोने लगी तब याद आया कि मेरी नथ मेरी नाक में नहीं है। वह अत्यन्त घबराहट के साथ उसे ढूँढ़ने लगी। अपने सारे घर में देख लिया परन्तु कहीं भी नजर नहीं आई इस प्रकार दो दिन तक अपना सारा समय गंवाया और खान पान भी छूट गया। एक दिन कोई साधु मन्दिर में आया हुआ था। यह खबर इस महिला को मिली तो वह तुरन्त ही अपनी नथ की बात पूछने के लिए वहाँ पहुँचीं। वे साधु बैठे थे। जाकर वे प्रार्थना करने लगी—महाराज! मेरी रक्षा करो। साधु ने पूछा—बेटी! क्या हुआ। महिला ने कहा कि मेरी नथ खो गई है। वह मुझे मालूम नहीं कि कहाँ गिर गई। मैंने जब जगह ढूँढ ली पर नहीं मिली। साधु की दृष्टि उसके गले को ओर गई। साधु ने कहा—ठीक है मैं अभी बताता हूँ कहाँ

से तुम एक दर्पण लाओ। भागी-भागी वह दर्पण लाई तब साधु ने उसके सामने दर्पण कर दिया। और कहने लगे—बेटी! देखो, इसमें कहीं पर दिखाई देती है। क्या? महिला ने देखकर कहा कि हाँ, दिखाई देती है। तब महिला ने दर्पण में हाथ लगाया तो साधु ने कहा कि यह तेरे गले में ही है। तब उसे विचार आया कि मैंने ही यह नथ गले में बाँधी थी। इसी तरह अनादि काल से अपनी चीज अपने पास हेते हुए भी तू अन्य स्थान में ढूँढता फिर रहा है। हे योगी! तुम सद्गुरु पर श्रद्धान रखो और उसी स्थान में उसको ढूंढ़ों। तभी वह सुख और शान्ति प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार गुरुदेव ने कहा कि वह चीज उस महिला के पास होते हुए भी वह अन्यत्र ढूंढ़ रही थी। इसलिए हे आत्मन्! तू ही अखण्ड अविनाशी आत्मा है। वह अन्यत्र कहीं भी नहीं मिल सकता है। यदि तू सम्पूर्ण पर वस्तु को मन वचन काय से दूर हटा कर आप अपने अन्दर प्रवेश कर अपने अन्दर रत होकर उस चीज को देखेगा तो उसे अपने अन्दर ही प्राप्त करेगा। उस तरह गुरुदेव का यह वचन है अगर तू अपने अन्दर सोचेगा तो आप सुखी होगा। इसलिए हे योगी! सम्पूर्ण बाह्य संकल्प विकल्प को त्याग कर शुद्ध परमात्मा बनो।

तत्व के अभ्यास के बिना भव समुद्र को पार नहीं कर सकता है—

कडुगडलिन नडुनीरोळ, तडिसारदे पोपवंगे तेप्पंकों-
दुडे पीडिदिसदे तत्वं, वडदभ्याससिसदे कडेयनन्तयूदुवनो ॥9॥

अत्यन्त गहरे समुद्र के मध्य में पड़ा हुआ जीव समुद्र के किनारे को प्राप्त करने में असमर्थ होता है। अगर उसको समुद्र के बीच में किसी लकड़ी का सहारा मिल जाये तो उसी सहारे से किनारे पहुँच सकता है अगर वह उस सहारे के द्वारा किनारा प्राप्त नहीं करेगा तो वह कभी भी उस महान समुद्र का किनारा प्राप्त नहीं कर सकता है। इसी तरह भगवान जिनेश्वर द्वारा कहे हुए तत्व का सहारा लिये बिना ये सांसारिक प्राणी भोग समुद्र को पार नहीं कर सकता है अर्थात् किनारे को प्राप्त नहीं हो सकता है।

विशेषार्थ—ग्रंथकार ने इस श्लोक में बताया है कि जब तक यह भव्य मानव प्राणी भगवान् जिनेश्वर द्वारा कहे हुए तत्व का अभ्यास रुचिपूर्वक

करके उस पर श्रद्धान् नहीं रखता है तब तक यह संसार रूपी समुद्र को पार नहीं कर सकता है।

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्रं रागदोसपरिहीणं।
मोक्खस हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं॥

कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि आत्मज्ञान प्राप्त भव्य जीवों के लिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित तथा रागद्वेष रहित चारित्र मोक्ष का मार्ग होता ऊें।

शुद्ध आत्मा के अनुभव को रोकने वाला बंध है जब कि अपने आत्मा की प्राप्ति रूप मोक्ष है। मोक्षरूपी नगर अनन्तज्ञान आदि गुणरूपी अमूल्य रत्नों से भरा है। उसी नगर का मार्ग सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान सहित वीतराग चारित्र है। इस मार्ग पर वे भव्य जीव ही चल सकते हैं जिनको शुद्ध आत्म स्वरूप की प्रगटता की योग्यता है तथा जिनको विकार रहित स्वसंवेदन ज्ञानरूप बुद्धि प्राप्त हो चुकी है। यह मोक्षमार्ग उन अभव्यों को नहीं मिलता जिनमें शुद्ध आत्मा के स्वभाव की प्रगटता की योग्यता नहीं है तथा उन भव्यों को भी नहीं मिलता जिनमें मिथ्या श्रद्धान सहित राग आदि परिणति रूप विषयानन्दमई स्वसंवेदन रूप कुबुद्धि पाई जाती है। जिनके कषायों का नाश हो जाने पर शुद्ध आत्मा की प्राप्ति हो जाती है उन्हीं के यह पूर्ण मोक्ष मार्ग होता है। जहाँ तक कषाय है और अशुद्ध आत्मा का लाभ है वहाँ तक पूर्ण मोक्षमार्ग नहीं होता है। यहाँ पर अन्वय व व्यतिरेक से आठ तरह का नियम देख लेना चाहिए। अन्वय व्यतिरेक का स्वरूप कहा जाता है—जिसके होते हुए कार्य संभव हो उसे अन्वय व जिसके न होते हुए कार्य संभव न हो उसे व्यतिरेक कहते हैं। जैसे यहाँ उदाहरण है कि निश्चय व्यवहार रूप मोक्ष कारण के होते हुए भी मोक्ष कार्य होता है। यह विधि रूप अन्वय कहा जाता है तथा इस मोक्ष कारण के अभाव होने पर मोक्षरूपी कार्य नहीं होता है यह निषेध रूप व्यतिरेक है। इसी को और भी दृढ़ करते हैं। जैसे जहाँ अग्नि आदि कारण होंगे वहीं उसका धूआँ आदि कार्य हो सकते हैं, जहाँ अग्नि आदि का अभाव होगा वहाँ उसके धूम्र आदि कार्य नहीं होंगे क्योंकि धूमादि कार्य का अग्नि आदि कारण है इस तरह कार्य और कारण का नियम है यह अभिप्राय है।

यहाँ तक बताया गया है कि मोक्ष का मार्ग समझाते हुए आठ बातों का नियय जाना लेना योग्य है–(1) सम्यक्त्व सहित ज्ञान होना आवश्यक है (2) चारित्र होना चाहिए जो आत्म स्वभाव में मग्नता रूप है (3) यह चारित्र रागद्वेष रहित वीतराग होना उचित है (4) ऐसा मार्ग शुद्ध आत्मा के लाभ रूप मोक्ष का ही है, किसी प्रकार बंध अवस्था का यह मार्ग नहीं है (5) वास्तव में यही मार्ग है, यह कभी अमार्ग नहीं हो सकता (6) ऐसा मार्ग भव्यों के ही होता हैं, अभव्यों को यह मार्ग कभी प्राप्त नहीं होता (7) तथा उन्हीं को होता है जिनके आत्मज्ञान हो चुका है (8) इस मार्ग की पूर्णता कषाय रहित पूर्ण वीतरागी जीवों के ही होती हे।

जब तक कोई भव्य जीव रुचिवान होकर आत्मा और अनात्मा का भेद भले प्रकार न समझ लेगा, और भेदज्ञान के अभ्यास से स्वानुभव को प्राप्त न कर लेगा तब तक उसे मोक्षमार्ग नहीं मिल सकता है। जब स्वानुभव होता है तब ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्रगटता होती है तथा ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव भी जब तक कषायों के नाश का उद्यम न करेगा और वीतरागी न होगा तब तक वह मोक्ष मार्ग की ऐसी पूर्णता नहीं पा सकता जिससे आत्मा के स्वभाव की प्रगटता रूप केवल ज्ञानरूपी भाव मोक्ष का लाभ हो सके। अतएव जो मोक्ष की प्राप्ति करना चाहें उनके लिए यह उचित है कि तत्वों की रुचि पैदा करें और आध्यात्मिक ज्ञान में रमण करने के अभ्यासी बनें। जिनको जल से भिन्न दूध दिखता है वे ही इस दूध को पी जल छोड़ देते हैं। इसी तरह जिनको पुद्गल से भिन्न आत्मा का अनुभव होता है वे ही पुद्गल का मोह त्याग आत्मा के स्वभाव में आसक्त हो जाते हैं।

वीतराग भगवान् के आत्मतत्व पर श्रद्धान–

वीतरागो हि सर्वज्ञो मिथ्या न ब्रुवते क्वचित्।
यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थदर्शकम्॥

वीतराग ही सर्वज्ञ होते हैं। वे कहीं पर भी किसी भी अवस्था में मिथ्या भाषण नहीं करते हैं इसलिए उनके वचन ही तथ्यपूर्ण और

भूतार्थ-प्रतिपादक होते हैं।

शंका—जिनवाणी में क्या शंका गृहस्थों के ही होती है अथवा संयमीजनों के भी होती है?

उत्तर—शंका दोनों के होती है, कारण कि शंका का कारण मोहनीय कर्म के उदय की प्रबलता है। यह कर्म दोनों के संभवित है।

जो दीक्षा ग्रहण करने का अभिलाषी है उसके शंका होती है। इस विषय में जो विचारणीय बात है वह सूत्रकार कहते हैं''सड्ढिस्स''इत्यादि।

वीतराग वचनों में विश्वास का होना श्रद्धा है। इस श्रद्धाविशिष्ट व्यक्ति का नाम श्रद्धी है। मोक्षमार्ग में विचरण करने वाले मुनियों के द्वारा संयम के योग्य बनाये गये-संयम धारण करने की ओर प्रवृत्त किये जाने का नाम समनुज्ञ है। संयम को धारण जिसने कर लिया है अर्थात् वैराग्य पूर्वक भगवती दीक्षा जिसने स्वीकृत कर ली है वह संप्रव्रजत् है। ऐसे व्यक्ति को यदि कदाचित जीवादिक तत्वों के स्वरूप में संदेह जो जाता है तो वह इस अटल श्रद्धा पर कि ''जिनेन्द्रदेव ने जो कुछ कहा है वही सत्य निःशंक तत्व है'' अपनी संदेहशील प्रवृत्ति का उन्मूलन कर देता है। इससे वह उत्तरकाल में सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है अथवा जीवादिक तत्वों में संदेहशील होने पर मिथ्यात्व प्रकृति के उदय में वह सम्यक्त्व लाभ से वंचित हो जाता है। यदि उत्तरकाल में सम्यक्त्व प्राप्ति की अधिकता उसे न हो तो सम्यक्त्व का लाभ जितने रूप में उसे पूर्व अवस्था में हुआ है उसी रूप में बना रहता है, अथवा उसकी अपेक्षा न्यून भी हो जाता है।

भावार्थ—आत्मा उपशम सम्यक्त्व को पा कर अन्तर्मूहुर्त काल के बाद नियम से या तो सम्यक्त्व के अभाव से मिथ्यात्वदशा में हो जाएगा या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाला हो जावेगा। क्षायोपशमिक से वृद्धि करके वही आगे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। इस प्रकार की विचित्र आत्मपरिणति से जिन वचन में शंका रहित हो कर प्रवृत्तिशील प्राणी को उस समय ''जिनोक्त तत्व ही सत्य है'' इस प्रकार के विश्वास से सम्यक्त्व का लाभ होता है। कारण कि सम्यक्त्व को नहीं होने देने वाले जो शंकादिक दोष हैं वे उस समय

उस आत्मा से पृथक् हो जाते हैं ‘‘सम्यगिति मन्यमानस्यैकदा असम्यग् भवति’’ जिन प्रवचन में श्रद्धासम्पन्न उसी मानव का ज्ञान जो पहिले सम्यक्त्व रूप में था उत्तरकाल में परतीर्थिक शास्त्रों के परिशीलन से अथवा छद्मस्थजनों ने जिन ग्रर्थों में एकान्त रूप से निश्चयनय का वर्णन किया है उन ग्रन्थों के अवलोकन से मति में व्यामोह उत्पन्न हो जाने के कारण हेत्वाभास एवं दृष्टान्ताभासों को भी सच्चे हेतु और सच्चे दृष्टान्त रूप मान लेता है। जिससे वह मिथ्यात्व से युक्त हो जाने के कारण सम्यक्त्व से वंचित अन्तः करणवाला हो जाता है क्योंकि इसके हृदय में विपरीत श्रद्धा का निवास होता है।

इस कारण यह स्याद्वाद सिद्धान्त के रहस्य को भूल जाने से फिर जिनोक्त सम्यक् तत्वों को भी असम्यक् रूप से मानने लग जाता है, अनेकान्तवाद का फिर तो वह खंडन करने लग जाता है, अचानक ही कह उठता है कि यह तत्व असत्य है। यह तो एक विलक्षण ही सिद्धान्त है यह कैसे संभव है? सत् असत्, नित्य अनित्य आदि अनेक परस्पर विरोधी धर्मों को जो तू एक ही जगह स्वीकार करता है, भला! यह भी कोई बात है। जो सत् होगा, वह असत् नहीं होगा और जो असत् होगा वह सत् नहीं होगा। इसी प्रकार जो वस्तु नित्य है, वह अनित्य कैसे हो सकती है और जो अनित्य होगी वह नित्य कैसे हो सकती है? यदि परस्पर विरुद्ध धर्मों का भी एकत्र अवस्थान माना जाएगा तो फिर जगत में विरोध नामक कोई वस्तु ही नहीं रहेगी, समस्त वस्तुओं में परस्पर संकरता ही हो जायगी, परन्तु ऐसा तो है नहीं, अतः अनेकान्तवाद सिद्धान्त युक्तियुक्त सिद्धान्त नहीं है तथा ऐसा कोई हेतु या दृष्टान्त भी नहीं है कि जिसके बल पर एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों की सत्ता साधी जा सके। ‘‘असम्यगिति मन्यमानस्यैकदा सम्यग् भवति’’ मिथ्यात्व अनुबन्ध जिसकी आत्मा में लगा हुआ है ऐसा मनुष्य वीतरागप्रतिपादित तत्व को पहिले असम्यक् समझता है, मिथ्यात्व के आवेश में वह विचारता है कि जैन सिद्धान्त में शब्द को जो पुद्गल की पर्याय माना गया है वह ठीक नहीं है, इसी प्रकार आत्मा को व्यापक न मानकर उसे जो स्वदेह प्रमाण माना है सो यह भी मान्यता उचित नहीं इत्यादि रूप से वह मिथ्यादृष्टि वीतराग प्रतिपादित तत्व में

असम्यक्पना देखता है।

इस प्रकार उसकी मान्यता का कारण प्रबल मिथ्यात्व का उदय है। इसकी प्रबलता में वह और भी अनेक अनर्थक मान्यताओं की कल्पना को सम्यक् माना करता है, जगत् को ईश्वर कर्तृक मानने का भी यही कारण है। इस प्रकार उसके मिथ्यात्व की वासना से प्रभुकथित मार्ग उल्टा अयथार्थ प्रतिभासित होता है। परन्तु जब उसकी निष्पक्ष आचार्यादिक के सम्यक उपदेश से अथवा परिणाम की विचित्रता से मिथ्यात्व के उपशम से आँखें खुलती हैं, तत्व का वास्तविक भान-निश्चय उसे होता है तो उसकी पूर्व मान्यता में सहसा परिवर्तन हो जाता है, संशय दूर होते ही फिर उसे यही निश्चय होता है कि जो वीतराग ने तत्वों का स्वरूप प्रतिपादन किया है वही वास्तविक है। शब्द आकाश का गुण न होकर पुद्गल की ही एक पर्याय है, यदि वह पौद्गलिक न होता तो उसके द्वारा कर्णइन्द्रिय का उपघात देखने में न आता। शब्द द्वारा कान पर आघात आकाश के अमूर्तिक होने पर उसके गुणको भी अमूर्तिक होने से कैसे हो सकता है? इसी प्रकार अनुग्रह भी जो शब्द से उसका होता है वह भी नहीं हो सकता। भला अमूर्तिक आकाश से भी कहीं अनुग्रह और उपघात होते हैं। अत: अनुग्रह और उपघात होने से शब्दमूर्तिक ही है। इस प्रकार से वह मुक्तिवाद के बल पर अपने पूर्व बाधक तर्क का अपनयन कर (छोड़) देता है, इसलिये उसका वही ज्ञान सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

''असम्यगिति मन्यमानस्यैकदा असम्यक् भवति'' मिथ्यात्व की वासना से जिसका अन्त:करण वासित हो जाता है तथा जिनेन्द्र प्रतिपादित सिद्धान्त जिसने परिशीलन भी नहीं किया है ऐसे मनुष्य के चित्त में ''स्वयाद्वादतत्व सुन्दर नहीं है''इस प्रकार का असम्यक् भाव उद्भूत होता है। उस कारण से वह स्याद्वाद-सिद्धान्त प्रतिपादित कथन को असम्यक् मानता है और कहता है कि जो जिनशास्त्र में यह लिखा है कि ''एक पुद्गल का परमाणु एक समय में 14 राजू प्रमाण गमन करता है सो यह बात समझ मे नहीं आती है, कारण कि एक समय में ही सप्तम नरक से उठ कर लोक के अन्त तक वह कैसे जा सकता है''। इस प्रकार की मान्यता का निषेध करता है। निषेध में वह यह

युक्ति देता है कि एक ही समय में जब परमाणु चौदह राजू गमन करता है तो उसका लोक के आदि और अंत के प्रदेश के साथ युगपत् संबंध होने पर परमाणु में भी चौदहराजू प्रमाणता आ जायगी अन्यथा युगपत् आदि अंत के प्रवेश के साथ उसका संबंध नहीं हो सकता है, तथा उसका युगपत् संबंध मानने पर लोक के आदि अंत प्रदेशों की भी एकता हो जावेगी ? ऐसा कहने वाले अज्ञानी वीतरागोपदिष्ट आगम के ज्ञाता न होने से इस बात को नहीं समझते हैं कि स्वाभाविक परिणाम से एक परमाणु शीघ्र गतिवाला होने से एक समय में असंख्यात प्रदेशों का उल्लंघन कर जाता है।

''सम्यगिति मन्यमानस्य सम्यक् वा असम्यक् वा सम्यक् भवति उत्प्रेक्षया'' उपादेय वस्तु को उपादेय रूप से और हेय वस्तु को हेयरूप से मानने वाले तथा ज्ञात विषय को निःशंक रूप से मानने और जानने वाले सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सम्यक् होता है।'' सर्वज्ञ के द्वारा कथित विषय सम्यक् और असर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित विषय असम्यक् है'' इस प्रकार इन दोनों बातों का सम्यकनय की अपेक्षा से विचार करने वाले सम्यग्दृष्टि मनुष्य का ज्ञान सच्चा ही माना गया है।'असम्यगिति मन्यमास्य सम्यग् वा असम्यग् वा सम्यग्भवति उत्प्रेक्षया' स्याद्वादनय की अपेक्षा से ही जीव और अजीवादि तत्वों का स्वरूप कहा गया है इसलिए उस स्वरूप विशिष्ट वे जीवादिक तत्व सम्यक् ही हैं, परन्तु छद्मस्थों की दृष्टि में यह नया विचार ठीक ठीक समझ में नहीं आ सकने के कारण और ऊपरी रूप से ही वस्तु को जानने के कारण से उनका ज्ञान अधूरा रहता है। अतः वे वस्तु के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ बन एकान्त-मत-प्रतिपादित वस्तु के अयथार्थ स्वरूप को सम्यक् और यथार्थ स्वरूप को असम्यक् मान बैठते हैं, इसलिये यथार्थ स्वरूप को जानने वालों की दृष्टि में यह उनकी मान्यता अयथार्थरूप ही है, क्योंकि जैसी प्रतीति होती है वैसा ही ज्ञान उन्हें होता है। असम्यक् प्रतीति का कारण असम्यक् पर्यालोचना या अपरिशुद्ध अध्यवसाय है। इसका भी कारण निशंकरूप से भान का अभाव है, इसलिये जिस रूप से संशयादि इन्हें वस्तु के विषय में उत्पन्न होते है उसी रूप से वहाँ फलित भी होते हैं।

इस प्रकार वास्तविक वस्तु तत्व में यथार्थ अयथार्थपने का कारण समझ कर जो इस विषय का विचार करने में चतुर हैं वे पर को इस विषय की दृढ़ता संपादनार्थ समझाते हैं कि हे भव्य! ''उत्प्रेक्षमाणोऽनुत्प्रेक्षमाणं ब्रूयादुप्रेक्षस्त्र सम्यक्तता'' मैंने इस पदार्थ की अच्छी तरह से पर्यालोचना कर ली है जिनशासन में जिस तत्व का वर्णन जिस रूप से किया गया है वह असंदिग्ध है, उसमें सन्देह के लिये थोड़ा सा भी स्थान नहीं है। इतने तत्व हेय हैं, इतने उपादेय हैं, इतने ज्ञेय हैं। वीतराग प्रतिपादित वस्तुस्वरूप ही यथार्थ है, अन्य छद्मस्थ कथित नहीं। इस प्रकार जिनशासन से परिकर्मित बुद्धि होने से हेय और उपादेय पदार्थो की अवगति पूर्वक उनमें सम्यक् असम्यक्पने की समालोचना करने वाला विद्वान् मुनिजन, लोकानुगमनशील एवं सम्यक् असम्यक् की आलोचना से रहित ऐसे संशयित मतिवाले जनों के प्रति संबोधनार्थ कहते हैं कि हे भव्य। कम से कम तू आँखों को मींचकर अपने चित्त में पक्षपात से रहित होकर इतना तो विचार कर कि जिस प्रकार से वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन जिन भगवान् ने किया है वह ठीक है या पर तीर्थिकजनों ने जिस वस्तु तत्व का प्रतिपादन किया है वह ठीक है।

अथवा–जो संयम के परिपालन करने में पूर्ण उद्योगशील हैं वे उसमें अनुत्साहित हुए अथवा संदेहशील हुए मनुष्य को समझावें कि हे भव्य! तू इस संयम के परिपालन के निमित्त पूर्ण प्रयत्नशील रह क्योंकि इस संयम की आराधना में ही ज्ञानावरण आदिक द्रव्य-भावकर्मों की परंपराके नाश करने की शक्ति रही हुई है। इस प्रकार प्रयत्नशील व्यक्ति के लाभ को प्रकट करने के लिये सूत्रकार ''तस्योत्थितस्य गति समनुपश्यत'' कहते हैं। ऐसे श्रद्धासम्पन्न एवं भगवती दीक्षा ग्रहण करने के लिये उद्यमशील मनुष्य को यह एक बड़ा भारी लाभ होता है कि जब वह शंका रहित होकर आचार्य के निकट बसता है या उनकी आज्ञा में रहता हुआ संयम की आराधना करने में तल्लीन होता है तब उसे सम्यक्त्व के परिज्ञान पूर्वक रत्नत्रय की आराधना से मुक्ति का लाभ होता है। इस प्रकार शिष्यों को सम्बोधन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि देखो श्रद्धासम्पन्न व्यक्ति सर्वजन की प्रशंसा का पात्र बन कर, ज्ञान और दर्शन में

दृढ़ता की प्राप्ति से चारित्र में निश्चलता धारण करता हुआ रत्नत्रय की आराधना से मोक्ष का पात्र बन जाता है। जो संयम में उद्योगशाली हैं, एवं उस उद्योग में जो निरन्तर जागृतिसम्पन्न हैं ऐसे मनुष्य को मुक्ति का लाभ या मोक्ष प्राप्ति के कारणभूत रत्नत्रय की आराधना की प्राप्ति होती है। किन्तु जो संयम के प्रति उदासीन हैं, उनकी लोक में निंदा होती है और परलोक में उन्हें नरकनिगोदादिक की गति प्राप्त होती है। इस प्रकार विचार कर हे शिष्यो! तुम संयम तप में सदा प्रयत्नशील रहो। इस कथन से प्रकृत में यह बात सिद्ध होती है कि जो संयम में समीचीन उद्योग से रिक्त हैं उनकी अधम गति होती है और जो उसमें उद्योग वाले हैं उनकी उर्ध्वगति-उत्तम गति होती है। इसलिये ''अत्रापि वालभावे आत्मानं नोपदर्शयेत्'' इस संयम के अनुद्योगरूप वाले भाव में कि जिसमें संयम के अनाचरणजन्य नरक निगोदादिक गतियों के कटुक फल का भान नहीं होता है, कुमार्ग प्रवृत्त लोगों के द्वारा सेवित ऐसे आचरण में सर्व कल्याण के पात्रस्वरूप अपनी आत्मा को संलग्न न करो, उस आचार में अपनी आत्मा का पतन न करो। सारांश इसका यह है कि जैसे कोई अन्यमती ''आकाश की तरह नित्य और अमूर्त होने से जीव का घात नहीं होता है'' इस प्रकार मानते हैं और बाल भाव का आचरण करते हैं, उस प्रकार साधु को नहीं करना चाहिये।

आत्मा का हनन नहीं होता है ऐसा समझकर जो प्राणियों के हिंसादिक कार्य में प्रवृत हैं उन पुरुषों की उस कार्य से निवृत्ति कराने के लिये तथा हन्यमान और हन्ता में एकता है इस बात को प्रकट करने के लिये सूत्रकार कहते हैं ''तुमंसि'' इत्यादि।

सूत्रकार दूसरों का घात करने वालों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि तुम जिनको मारने योग्य-दण्ड-चाबुक शस्त्र आदिकों से यह मारने लायक है, ऐसा समझते हो वही तुम हो, क्योंकि उसमें और तुममें कोई अन्तर नहीं है। शास्त्रकारों ने जीव का लक्षण चेतना बतलाया है। ऐसा कोई सा भी जीव नहीं है कि जिसमें यह लक्षण न पाया जाता हो। अतः इस जीव के सामान्य लक्षण से युक्त होने से समस्त जीव लक्षण की अपेक्षा से एक हैं।

भावार्थ—यद्यपि आत्मा अमूर्त है। जो अमूर्त होता है उसका आकाश की तरह हनन-विनाश-घात नहीं हो सकता है, घात मूर्त शरीर का ही होता है। परन्तु फिर भी जो हिंसा मानी जाती है उसका कारण यह है कि हिंसक द्वारा जीव को उसके आश्रयभूत शरीर से विमुक्त कर दिया जाता है। इस क्रिया का नाम हिंसा है क्योंकि जीव का आश्रयभूत होने से यह शरीर उसे अत्यन्त प्रिय था, हिंसक ने उसे अपने हिंसा रूप कर्म द्वारा विनष्ट कर दिया। हिंसा का लक्षण भी यही क्रिया है।

पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वास-निःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा॥

अर्थ—पांच इन्द्रिय, तीन बल, उच्छ्वास निःश्वास और आयु इन दश प्राणों का वियोग करना हिंसा है।

दूसरी बात यह है कि आत्मा सर्वथा अमूर्त भी नहीं है, क्योंकि कर्मबन्ध की अपेक्षा वह कथंचित् मूर्त माना गया है। सर्वथा अमूर्त मानने पर ही गगनादिक की तरह उसमें हननादि रूप विकार नहीं हो सकता है। परन्तु ऐसी मान्यता एकान्त रूप से जैन धर्म की नहीं है। जब वह शरीर में अधिष्ठित प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत होता है तो फिर उसके विघात होने पर उसका भी विघात माना जाता है। इसी प्रकार आत्मोपमता सर्वत्र वक्ष्यमाण पदों के अर्थ के साथ भी समन्वित कर लेनी चाहिये, यही बात ''त्वमसि नाम स एवं यमाज्ञापयितव्यमिति मन्यते'' इत्यादि पदों में प्रकट की गई है—तुम जिस दुष्कर एवं अनभिमत कार्य में अन्य जीवों को ''ये वहाँ नियुक्त करने योग्य हैं ऐसा समझकर नियुक्त करते हो सो ऐसा व्यवहार तुम्हारा उन जीवों के साथ नहीं है, किन्तु यह व्यवहार तुम स्वयं अपने ही साथ करते हो ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि उनमें और तुममें जीव के सामान्य लक्षण की अपेक्षा कोई अंतर नहीं है। इसी प्रकार जिन जीवों को तुम शरीरिक एवं मानसिक पीड़ा पहुँचाने योग्य मानकर उन्हें उस तरह की पीड़ा पहुँचाते हो प्राणों से उन्हें वियुक्त करते हो, परिग्रहण योग्य मानकर तुम जिन जीवों का दास-दासी आदि रूप में परिग्रह करते हो, यह सब व्यवहार तुम्हारा उन जीवों के साथ उचित

नही है, क्योंकि जिस प्रकार अपनी हिंसा करने वाले को जानकर तुम्हें कष्ट का अनुभव होता है, अपने को परिताप पहुँचाने योग्य जानने वाले व्यक्ति को देखकर जैसे तुम्हें तिरस्कार जाग्रत होता है और जैसे अपने को प्राणों से वियुक्त करने योग्य मानने वालों के ऊपर तुम्हें क्रोध होता है, उसी प्रकार यदि तुम भी इस पकार का व्यवहार दूसरों को प्रति करते हो तो तुम्हारा यह व्यवहार आत्मोपमता से तुम्हें स्वयं दु:खप्रद होगा। कारण कि हिंसनीय, आज्ञापनीय, परितापनीय, परिग्रहणीय और अपद्रावणीय तुम स्वयं हो जाते। अत: अन्य को उस व्यवहार के योग्य मानने से ही स्वयं अपने को उस व्यवहार के योग्य मानना है। ये पूर्वोक्त समस्त वाक्य हिंसाके प्रकारों के ही प्रतिपादक हैं ऐसा समझना चाहिये। अत: आत्मज्ञानी मुनि का कर्तव्य है कि वह कभी भी किसी भी जीव के हिंसादि कार्यों में प्रवृति न करे। इसी आशय से सूत्रकार ने ''स एकत्वनति'' इस वाक्य से सर्वत्र हन्यमान हन्ता आदि में एकता का कथन किया है। जिस प्रकार अनिष्ट की प्राप्ति में तुम्हें दु:ख होता है उसी प्रकार अन्य के साथ करते हुए यह अनिष्ट व्यवहार इन्हें भी दु:खप्रद होता है इस प्रकार मोक्षाभिलाषी मुनि को सदा विचार करते रहना चाहिये, यही सूत्रकार का आशय है। ''त्वमसि नाम स एवं य हन्तव्यमिति मन्यसे'' यह सूत्रांश मृषा वाद आदि का उपलक्षक है। हन्ता और हन्यमान में जो एकता का कथन किया है उसका यह अभिप्राय है—जो एकत्वप्रतिबुद्ध जीवी है—हन्ता और हन्यमान में एकता के प्रतिबोध से ही जिसका जीने का स्वभाव है, अर्थात् दूसरों के घातादिक व्यापार से निवृत्त जिसका जीवन है ऐसा ऋजु जीव अपने तुल्य समस्त जीवों को मानकर उनके दु:ख का दर्शी होता है। इससे उसे इस बात का बोध होता रहता है कि जिस प्रकार मेरी हिंसा होने पर मुझे दु:ख होता है उसी प्रकार अन्य प्राणी को भी हिंसा होते समय दु:ख होता है इसलिए स्वात्मोपमता के ध्यान से परप्राणी के प्राणों का विराधक कभी भी मुनिजन को नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार वह स्वयं हिंसा से विरक्त होता है, उसी प्रकार उससे वह अन्यजन को भी निवृत्त कराता है। ''अपि'' शब्द से हिंसा में प्रवृत्त अन्यजन की वह अनुमोदना भी नहीं करता है यह बोध होता है।

''अनुसंवेदनमात्मना यद् हन्तव्यं प्रार्थयेत्'' अनु शब्द का अर्थ पश्चात् और संवेदन शब्द का अर्थ अनुभावन है। मोहनीय कर्म के उदय से जो हननादिक व्यापारों द्वारा अन्य जीवों को दुःख पहुँचाया जाता है, वह दुःख पश्चात् पीछे मारने वालों के द्वारा भोगने योग्य होता है, ऐसा विचार कर-निश्चय करे यह हन्तव्य है इस प्रकार की परिणति से कभी भी किसी भी जीव को मारने योग्य नहीं समझना चाहिये। जब मन से भी इस प्रकार की घात करने रूप परिणति के चिन्तन तक का विचार मुनिजन या सामान्य जन के लिये निषिद्ध है तो काय और वचन से तो इस प्रकार की परिणति का निषेध स्वतः ही हो जाता है। मुनिजन के लिये सर्वथा मन, वचन और काय से पर जीवों की हिंसा आदि का सर्वथा त्याग करना चाहिये यही इसका भावार्थ है।

आत्मा को दूसरे जीवों की हिंसा आदि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि हिंसाजन्य पाप कर्म का फल उसे भोगना पड़ता है ऐसा निश्चय कर वह सर्वथा हिंसा आदि का त्याग करे।

नित्य और उपयोग लक्षण वाला जीव ही आत्मा है और वही विज्ञान क्रिया का कर्ता है। इस आत्मा से पदार्थों का बोधक ज्ञानगुण सर्वथा भिन्न नहीं है। इसी प्रकार जो पदार्थ परिच्छेदक उपयोग है वही आत्मा है, क्योंकि आत्मा स्वयं उपयोग लक्षण वाला है। यह उपयोग ही ज्ञान स्वरूप है इसलिये ज्ञान और आत्मा में अभेद है।

भावार्थ—आत्मा और ज्ञानगुण में परस्पर में सर्वथा भेद नहीं है, क्योंकि आत्मा का लक्षण उपयोग है, और यह उपयोग स्वरूप से परिणत ही आत्मा है। उपयोग दो प्रकार है—1. ज्ञानोपयोग, और दूसरा दर्शनोपयोग। दर्शनोपयोग में पदार्थ का सामान्य प्रतिभास होता है, ज्ञानोपयोग में पदार्थ का भिन्न-भिन्न रूप से विशेष बोध होता है। ऐसा कोई सा भी क्षण नहीं है जब आत्मा अपने इस स्वभाव से रहित हो तथा यह स्वभाव आत्मा को छोड़ कर निराधार कहीं प्रतीत होता हो। आत्मा ही तत्तदुपयोग स्वरूप परिणमित होता रहता है। इससे यह बात प्रतीत होती है कि आत्मा से ज्ञानगुण और ज्ञानगुण से आत्मा स्वतन्त्र भिन्न नहीं है।

शंका—ज्ञान और आत्मा को अभेद मानने पर अपसिद्धान्त नामक निग्रह स्थान आता है, क्योंकि यह मान्यता जैन सिद्धान्त की मान्यता को पुष्ट न कर उल्टी सौगत (बौद्ध) मान्यता का ही समर्थन करती है। यह ज्ञान और आत्मा का अभेदबाद बौद्धों का है न कि जैनियों का।

उत्तर—जिस प्रकार ''नीलो घट:'' ''नीलो घट:'' इस वाक्य में नील और घट इन दोनों की एकत्र स्थिति होने पर भी इन दोनों में एकता नहीं मानी जाती है, किन्तु अभेद ही माना जाता है अन्यथा दोनों में एकता मानने पर नीलगुण के नाश होने पर घट के नाश का भी प्रसंग होगा उसी प्रकार प्रकृत में ज्ञान और आत्मा में भी एकता नहीं है किन्तु अभेद ही है, इस प्रकार पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

भावार्थ—शंकाकार ने जो ज्ञान और आत्मा के अभेद में बौद्धवाद का समर्थन करना प्रकट किया है उसका यहाँ पर प्रत्युत्तर दिया गया है—एकता और अभेद में अन्तर है। बौद्ध सिद्धान्त आत्मा और ज्ञान में अभेद नहीं मानता है किन्तु वह दोनों में एकता मानता है। इससे ज्ञान की अथवा आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती है, किन्तु दोनों में एकता ही सिद्ध होती है। इस एकता में या तो आत्मा ही का अस्तित्व सिद्ध होता है या ज्ञान का। दोनों का नहीं। अभेद पक्ष में ऐसा नहीं है। वहाँ पर ''नीलो घट:'' की तरह अभेद होने पर भी दोनों की सत्ता का विलोप नहीं होता है। गुण और गुणी में एकता मानने पर गुण गुणी का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं बनता है। गुण गुणीरूप और गुणी गुणरूप में परिवर्तित हो जाते हैं। परन्तु अभेद पक्ष में यह बात नहीं आती, दोनों की स्वतन्त्र स्वरूप से सत्ता रहती है। इस पक्ष में इतना होता है कि गुण गुणी को छोड़कर और गुणी गुण को छोड़कर परस्पर निरपेक्ष रूप में नहीं रहते हैं, किन्तु परस्पर में एकता सापेक्ष रूप में ही इनकी वृत्ति बनी रहती है। नील और घट इन दोनों में परस्पर नहीं है किन्तु अभेद सम्बन्ध ही है। ऐसा नहीं है कि नील स्वरूप घट और घट स्वरूप नील है। किन्तु घट को छोड़कर नील की और नील को छोड़कर घट की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यदि इन दोनों की एकता मानी जावे तो नील के नाश होने पर घट का नाश होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है।

शंका—नील के नाश होने पर नीलात्मना घट का भी तो नाश हो जाता है—इसलिये दृष्टांत की असिद्धि है।

भावार्थ—यह जो अभी कहा गया है कि नील और घट की एकता मानने पर नील स्वरूप के नष्ट होने पर घट का भी नाश होना चाहिये—इस पर प्रतिवादी का यह आक्षेप है कि नील के नाश होने पर नील स्वरूप से घट का भी नाश हो जाता है इसलिये यह दृष्टान्त सिद्ध नहीं हैं, किन्तु असिद्ध ही है। दृष्टान्त वादी और प्रतिवादी दोनों को सिद्ध हुआ करता है, इसलिये दृष्टान्त के बल से वादी अपने साध्य की सिद्धि करता है। असिद्ध दृष्टान्त से नहीं।

उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि दृष्टान्त सिद्ध ही है, असिद्ध नहीं है। हम अनेकान्तवादी जैन स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार प्रत्येक पदार्थ को अनन्त धर्मात्मक मानते हैं। इसलिये किसी एक विवक्षित धर्म का विनाश होने पर भी उसमें अन्य धर्मों का सद्‌भाव होने से विवक्षित रूप के नष्ट होने पर भी वह सर्वथा नष्ट हो गया ऐसी मान्यता घटित नहीं हो सकती है। अत: दृष्टान्त सिद्ध ही है असिद्ध नहीं है। इसी प्रकार दार्ष्टान्तिक (आत्मा और ज्ञान) में भी ज्ञान (विशेष विवक्षित घट आदि ज्ञान) के नाश-परिवर्तन होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता है, क्योंकि आत्मा में अन्य अर्मूत्व, असंख्यात प्रदेशित्व और अगुरुलघुत्व आदि अनेक धर्मों का अस्तित्व रहता है। इसलिये विवक्षित धर्म के अभाव में आत्मा नष्ट हो गई ऐसा व्यवहार वहाँ संभवित नहीं हो सकता। अत: इस कथन में कोई भी विरोध नहीं है। अधिक क्या कहा जाय, ज्ञान और आत्मा को अभेद कहकर करण भूत ज्ञान के साथ भी आत्मा का अभेद है इस बात को प्रतिपादन करने के निमित्त सूत्रकार कहते है, ''येन विजानाति स आत्मा'' कि जिस मति आदि करणभूत अथवा क्रिया रूप ज्ञान से वह आत्मा ही परिणत हुआ है क्योंकि आत्मा का स्वभाव परिणमन शील है, कूटस्थ नित्य नहीं। अत: आत्मा ही उस करणज्ञान अथवा जानने रूप क्रिया से परिणत हुआ है। ''स्व-आत्मानं आत्माना जानाति''- आत्मा आत्मा को आत्मा से जानता है। इस वाक्य प्रयोग में एक आत्मा ही, कथंचित

भेद दृष्टि की अपेक्षा से कर्ता, कर्म, क्रिया और करणरूप से परिणत होता है। आत्मा कर्ता, आत्मानं कर्म, आत्मना करण और जानाति यह क्रिया है। यहां आत्मा ही एक पदार्थ कथचिंत् भेद की अपेक्षा से नानाकारक रूप से परिणत होता हुआ प्रकट किया गया है। ऐसा होने पर भी आत्मा का रूप पदार्थ में अनेकता-परस्पर में कर्ता कर्म आदि में भिन्नता सिद्ध नहीं होती है।

मुनिस्तपसा कर्म धुनोति '' इस वाक्य में कर्ता, कर्म, करण और क्रिया में परस्पर भिन्नता साधारण से साधारण प्राणी तक को भी प्रतीत होती है। फिर आप कर्ता, कर्म आदि कारकों में परस्पर अभिन्नता कैसे कहते हैं, सो ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि हमारा तो सिर्फ इतना ही कहना है कि परिणामी होने से एक ही आत्म पदार्थ कर्ता, कर्म, करण और क्रिया रूप में परिणत होता देखा जाता है। हम यह तो कहते नहीं हैं कि अभेद में ही कर्ता करणादि रूप की प्रतीति होती है। ''आत्मा ज्ञान से आत्मा को जानता है।'' यहाँ पर अभेद हैं इसमें भी कर्तादि रूप की प्रतीति होती है, और करण रूप ज्ञान से आत्मा का अभेद संबंध है ऐसा मानना चाहिये। कर्ता, कर्म, करण और क्रियाओं की प्रतीति अभेद में भी कथंचित् भेद विवक्षा के वश से बन जाती है। इस व्यवहार में कोई विरोध नहीं है और इसलिये इस प्रकार का व्यवहार होता है। कहा भी है।

''भूतिर्यस्य क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते।''

निट्टेलु मुरियद मुन्नंदिद्विगळ्त्ति सूसि पोगद मुन्नं।
कड्डिगे विडियद मुन्नं नेट्ठने नीं निन्न नरदि भाविसु जीवा॥10॥

हे जीव जब तक तेरी पीठ की हड्डी न झुके, जब तक तेरी आँखों की रोशनी न जाये, आंखों से अच्छी तरह दीखता रहे, हाथ में डण्डा न आये, तब तक तू अपने अन्दर को ठीक समझ कर आत्म-चिन्तन कर क्योंकि वृद्धावस्था में सामान्यत: चित्त की स्थिरता न होने के कारण तेरा शुद्धात्मा होना अत्यन्त कठिन है। इसलिये जब तक वृद्ध अवस्था प्राप्त न हो उसके पहले आत्म-स्वरूप का चिंतन करना तेरे लिये अत्यन्त उचित है। ऐसा श्री

गुरु उपदेश देते हैं।

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस पद्य में जीव को सम्बोधन करते हुए कहा है—हे आत्मा ! अगर इस मनुष्य पर्याय में अपनी आत्मा का हित करना चाहता है, जो तब तक तेरी कमर की हड्डी नहीं झुकी, जब तक आँखों में देखने की शक्ति है, जब तक शरीर में झुर्री नहीं पड़ी है जब तक वृद्धावस्था नहीं आई है, उससे पहले आत्म चिन्तन कर। हे आत्मा! तू इस शरीर के मोह के कारण अनादि काल से अपने आत्म हित से वंचित है, और क्षण में नष्ट होने वाले शरीर से ममता करके, अखण्ड अविनाशी शुद्ध निर्मल अनन्त सुख के सागर आत्म स्वरूप का अवलोकन नहीं किया। इस शरीर में स्थित पंचेन्द्रियों की विषय-वासनाओं मे आसक्त होकर इसके पीछे अनन्त दुःख उठाते हुए दीर्घ काल से संसार परिभ्रमण कर रहा है। इसलिये आत्मन् ! तेरे शरीर में जब तक वृद्धावस्था ने प्रवेश नहीं किया तब तक तुझे अपना आत्महित कर लेना योग्य है।

हे जीव ! अच्छेद्य, अभेद्य, अजर-अमर, अनन्तज्ञानमय, अनन्तदर्शनमय, अनन्तसुखमय, अनन्तवीर्यमय ज्योतिस्वरूप पवित्र, अलिंग, अभिव्यत्त निर्लेप, निरंजन और आनन्दमय ऐसा जो तेरा स्वरूप है यह निश्चय नय से है। इस आत्म-स्वरूप में किसी प्रकार का परवस्तु का संयोग नहीं होता है। परन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से पर वस्तु में आत्मा ने रागभाव करने के कारण रागद्वेषी बनकर मोह किया है। इसी मोह के कारण अपने को सुखी दुखी मानकर इस संसार में दीर्घ काल से भ्रमण करता आ रहा है। तू एकाग्र होकर अपने अन्दर विचार कर। तेरे अन्दर न पर वस्तु है, न राग है, न मोह है, न आत्मा में आत्मा से भिन्न पर विकार है। जिस शरीर के लिये अनादि काल से जन्म मरण करता आ रहा है, यदि विचार करके देखा जाये तो यह शरीर क्षणिक है अशाश्वत है। इसमें हड्डी, माँस, मज्जा, रक्त वीर्य आदि भरा हुआ है। हड्डी के ऊपर चढ़ा हुआ चमड़ा केवल भीतर की गन्दगी को दबा ढका रखता है, जिन्हें देखकर दूसरे लोग घृणा न करें। इसके भीतर कोई पवित्र वस्तु आपको देखने में नहीं आयेगी। यह तो केवल मल मूत्र का ही भण्डार है। परन्तु अज्ञानी जीव इसमें मोह करता है। जैसे भैंस गन्दी कीचड़ में लेटती

है और उसी में आनन्द मानती है। गन्दगी का विचार उसको नहीं आता है।

इसका कारण है कि अनादि कालीन संस्कार का उस पर प्रभाव है। इसी तरह यह जीवात्मा अनादि काल का संस्कार होने के कारण अपवित्र मल मूत्र दुर्गन्धा से भरे हुए अत्यन्त निंद्य शरीर में हमेशा लेटता हुआ आ रहा है। वही ग्रहण करता है, वही खाता है, वही पीता है उसी के लिये अनेक पर्यायों मे जन्म-मरण करता हुआ आ रहा है। इसलिये इस जीव को इतना दुःख उठाना पड़ा है।

जैसे कोई मनुष्य सरकार के कानून के विपरीत कोई अपराध करता है, उस अपराध के निमित्त सख्त जुर्माना करके अमुक साल, अमुक महीने तक उसको कैद कर दिया जाता है। उस कैदखाने की यदि दशा देखी जाय तो उसका कमरा मलिन दुर्गन्ध से भरा हुआ रहता है। उसकी सफाई कभी नहीं होती है। ऐसे कैदखाने में बन्द होने के बाद उसको बड़ी तकलीफ हो जाती है। वह वहाँ बैठना भी पसंद नहीं करता है। परन्तु अपराध के कारण उसको जो सजा हो गई है उसको भोगे बिना छुटकारा भी नहीं पा सकता। उसका दिन भी मुश्किल से कटता है और यही विचार करता रहता है कि आगे मैं ऐसा कोई काम न करूँगा। इस प्रकार घृणा करता है। यह भारी कष्ट है, इस दुर्गन्धित जेलखाने में कब तक रहुँ। इस प्रकार पश्चाताप करते हुए वह दुर्गन्धि को बार-बार याद करता है। उसको मल मूत्र-भी वहीं करना पड़ता है, वहीं खाना पड़ता है। परन्तु अपराध के कारण जो उसको दण्ड मिला है, वह उसको भोगना ही पड़ेगा।

विकारभरा शरीर का संस्कार अनादिकाल का होने के कारण यह जीव इसका मोह छोड़ना पसन्द नहीं करता अर्थात् जल्दी उस शरीर रूपी कमरे को छोड़ जाने का विचार उसके मन में नहीं आता है। अज्ञानी जीव की यही दशा है कि प्रत्येक योनि में जन्म लेते हुए दुर्गन्ध को खाते-खाते उसका अभ्यास हो जाता है इसलिये वह उसमें से निकलकर अपने अविनाशी बाधा रहित स्थान को जाना नहीं चाहता है, यही इस जीव का अज्ञानीपना है। इसलिये हे जीव ! तुझे भी इसी तरह पूर्व जन्म में किये हुए पाप पुण्य का अपराधी होकर छोटे-बड़े ऐसे महान निन्दनीय दुर्गन्धमय शरीर में, जेल रूपी

माता के मल मूत्र से भरे हुए भण्डार में तुझे अपराध की मियाद पूरी होने तक बन्द होना ही पड़ेगा और उससे निकलते समय तुझे पुरुष की आकृति, या स्त्री की आकृति पशु की आकृति, देव की आकृति, नारकी जीव की आकृति धारण किये हुए दुर्गन्धमयी कोठरी से बाहर आना पड़ेगा। शरीर के सम्बन्ध से तू सोचता है कि मैं सेठ हूँ, मैं चक्रवर्ती हूँ, मैं रूपवान हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं शूरवीर हूँ, इस प्रकार अहंकार से दूषित होकर अनेक प्रकार के अशुभ भाव करके अत्यन्त निन्द्य गति को प्राप्त होकर संसार में दीर्घ काल से भ्रमण कर रहा है।

हे आत्मन ! इस शरीर सम्बन्धी जितनी तेरी अनंत माताएं अब तक बनी हैं और तूने उनका जितना दूध पिया है और तेरे लिये तेरी माता ने वियोग के दुःख से जितने आंसू बहाये हैं यदि वह दूध या उनकी आँसू की धारा को एकत्रित किया जाये तो वह आंसुओं का जल समुद्र से भी अधिक होगा। प्रत्येक योनि में भिन्न-भिन्न माता की कुक्षि से जन्म लेकर, उसके लिये मोह करते हुए तूने दुःख उठाया है। परन्तु तेरे दुःख को मिटाने के लिये कोई भी तैयार नहीं हुआ, इस बात को याद रख परन्तु तूने उन पर मोह किया और उनको तूने अपना उपकारी समझा। हितकारी मानकर तूने उनकी रक्षा के लिये इतने कष्ट उठाये हैं कि वे मुँह से नहीं कहे जा सकते। इस शरीर को छोड़ते समय जो लोग तेरे मृतक शरीर के साथ जाते हैं वे भी आधे रास्ते से ही यानि शमशान से ही अपने स्थान को वापिस आ जाते हैं।

हे मूर्ख जीव ! इस शरीर के मोह के कारण तू जन्म मरण करता रहा है। संसार चक्र में भ्रमण करते हुए चारों गतियों में तूने अनेक दुःख पाये इसलिये हे आत्मन् ! अब तो चेत। चार गति के दुःख इस प्रकार हैं—

नरक सात हैं। नारकियों के निवास स्थान उन सातों नरकों में अनेक प्रकार के दुःख देने वाले भयानक बिल हैं। उन बिलों में अनेक बार जन्म लेकर अनेक प्रकार के दुःख भोगे। उन दुःखों के भोगने की काल सीमा कम से कम 10 हजार वर्ष से लेकर 33 सागर पर्यन्त है। अनादि काल से तू इन

नारकीय तीव्र दु:खों को अनंत बार भोग चुका है।

तिर्यञ्च गति के दु:ख–हे आत्मन् ! तू सम्यग्दर्शन के बिना तिर्यञ्च गति सम्बन्धी दु:खों को अनेक काल से भोगता चला आया है। पृथ्वी काय में जन्म ले कर कुदालों आदि के द्वारा खोदने से तुझे भयानक पीड़ा होती है, तूने वह पीड़ा अनन्त बार सही है। जल काय में अग्नि आदि से तपाने से तूने दु:ख पाया है। अग्नि काय का जन्म धारण करके तूने जल द्वारा प्रज्वलित अग्नि को बुझाने पर भयानक वेदना सही है। वनस्पति पर्याय में पवन में हिलाये जाने पर या काटे जाने पर, बिजली आदि के गिरने से और अनुकूल जल धूप और वायु न मिलने से तूने तीव्र वेदना सही है। इसके अतिरिक्त भार लादने, ताड़ने, बांधने और मारने की अनेक वेदनायें तुझे उठानी पड़ी हैं। विकलत्रय में दूसरों के द्वारा दबाये जानेपर या खाये जाने पर अल्प आयु में ही मरण हो जाता है जिसके द्वारा असह्य दु:ख भोगना पड़ता है। पंचेन्द्रिय जलचर आदि में परस्पर घात तथा मनुष्य आदि के द्वारा दी गई वेदना, भूख, प्यास का कष्ट वध बन्धन मारपीट आदि के कष्ट उठाने पड़ते हैं। इस प्रकार तिर्यन्च गति तथा वनस्पति आदि पर्यायों में दीर्घकाल तक असंख्य दु:ख पाये हैं।

मनुष्य गति के दु:ख–हे जीव ! मनुष्य गति में तुझे जो दु:ख उठाने पड़े हैं तू वर्तमान काल में अनुभव कर ही रहा है। तुझे दिन रात मानसिक दु:ख उठाने पड़ते हैं। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, विषय वासना की पूर्ति में और चिन्ता आदि के तू दु:ख उठाता है। जब तू माता के गर्भ में आया उस समय तुझे नौ माह तक माता के गर्भ में उल्टा लटका रहना पड़ा। वहाँ माता के उदर में नाना प्रकार की वीभत्स गन्दगी रहती है वहाँ तुझे इतने दिन तक अनिच्छा से कारागार की तरह बन्द रहना पड़ा है। जन्म लेने के बाद भूख प्यास शीत आतप रोग आदि का दु:ख होता है। शारीरिक व्याधि, रोग लगे रहते हैं परकृत ताड़न मारन आदि के भी अनेक दु:ख उठाने पड़ते हैं। वास्तव में मनुष्य जीवन चिन्ता और दु:खों का जीवन है। प्रत्येक मनुष्य दिन रात दु:खों का अनुभव करता रहता है, उन दु:खों की कोई सीमा नहीं है, न कोई अन्त है, किसी भी मनुष्य से पूछा जाये वही अपने दु:खों का रोना रोता है। निराकुल सुख क्षण

भर भी नहीं मिलता परन्तु दुःख जीवन भर चलता रहता है।

देव गति के दुःख—हे आत्मन् ! देव गति में दूसरे देवों के बड़े ऋद्धि-वैभव को देखकर मन में ईर्ष्या-जनित जो दुःख की अग्नि जलती है, उसके कारण दूसरा देव दिन रात जलता रहता है। स्वर्गीय अप्सराओं के वियोग काल में अनेक दुःख होते हैं, कभी-कभी अपराध बनने पर इन्द्र द्वारा अपमानित होने की मानसिक पीड़ा से कराहता रहता है। अपनी मृत्यु के 6 माह पूर्व से पारिजात पुष्पों की माला सूखने पर जब अपनी मृत्यु होने का विश्वास होता है तो 6 महीने की अवधि में जो दुःख होता है, जो मानसिक संताप होता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

हे जीव ! स्वर्ग में भी सभी उच्च जाति के देव नहीं होते। वहाँ भी आभियोग्य और किल्विष जाति के देव भी होते हैं जिनसे दूसरे देव घृणित व्यवहार करते हैं। उन्हें इन्द्र की परिषद में बैठने का अवसर नहीं देते। बल्कि चाण्डाल आदि की तरह उन्हें पृथक रहना पड़ता है तथा दूसरे देवो और इन्द के विमानों के वाहन का काम करना पड़ता है। तब वह देव दूसरों की ऋद्धि वैभव और सुन्दर देवांगनाओं को देखकर जो मन में दुःख पूर्वक विचार करता है मैं पुण्यहीन हूँ और ये सब पुण्यवान् हैं इस प्रकार मन के संकल्प विकल्पों से वह दुःख होता रहता है।

अशुभ कर्म उदय से नीच देव हुआ तो—

हे जीव ! तू चार प्रकार की विकथाओं में रत होकर अशुभ भावहिंसा का भाव रखता है जिसके कारण तुझे अनेक बार देव गति में कुदेव के रूप में जन्म लेना पड़ा है। स्त्री कथा, भोजन कथा, देश कथा और राज कथा इन चार विकथाओं में तू सदा उलझा रह है तथा जाति आदि आठ मदों में सदा उन्मत्त बना रहा। इस प्रकार राग और अहंकार के परिणाम करके तूने अनेक बार नीच देव का जन्म लिया और वहाँ अनेक मानसिक कष्ट उठाये। इसलिये हे योगी ! तू मुनि पद धारण करने के बाद इन विकथाओं का त्याग कर दे और इन मदों से अपनी आत्मा को मलिन न होने दे। यदि तू इन विकथाओं में रत होगा तो

मुनि-लिंग धारण करके भी तपस्या करने से तुझे क्या लाभ होगा। मुनि पद धारण करके विकथाओं में मग्न होकर राग परिणति द्वारा नीच देवों में जन्म लेना उचित नहीं। इससे तो संसार में दीर्घ काल तक भ्रमण करना होता है।

हे जीव ! तूने अब तक भूतकाल के अनन्त भवों में माताओं के स्तनों का जितना दूध पीया है यदि उसको एकत्रित किया जावे तो उस दूध से एक विशाल समुद्र बन सकता है। जिन माताओं के गर्भ से तूने जन्म लेकर मरण किया तो तेरे वियोग से रोने वाली उन माताओं के आँखों के आँसुओं के पानी को अगर एकत्रित किया जाये तो वह भी समुद्र के जल से अधिक हो जायेगा। हे मुने ! तू यह भी विचार कर कि इस अनन्त संसार में आज तक तूने जो जन्म धारण किये हैं यदि उन जन्मों के केश, नख, नाल और हाड़ इन सबको एकत्र किया जाये तो वह मेरू पर्वत से भी विशाल स्तूप बन जाये। हे योगी ! तू जल में, स्थल में, अग्नि में, वनस्पति में, वायु में, आकाश में, पर्वत की गुफाओं और नदियों के तट पर वृक्षों के कोटर में तथा अन्य स्थानों पर तीनों लोक में अब तक निवास करता आया है। तीनों लोक में आकाश का एक भी प्रदेश तूने नहीं छोड़ा। जहाँ तूने जन्म धारण न किया हो तथा जिसे तूने अपना निवास न बनाया हो। प्रत्येक प्रदेश प्रत्येक योनि और प्रत्येक पर्याय में तूने अनन्त बार जन्म मरण धारण किया।

जो कुटुम्ब से छूटा तो नहीं छूटा, भाव से छूटा तो छूटा। जो साधु भाव से मुक्त हो गया उसको मुक्ति मिल गई। स्त्री कुटुम्ब मित्र आदि से मुक्त होने से उनको मुक्त नहीं कहा जा सकता इसलिये ऐसा समझकर आभ्यंतर वासना को तू छोड़।

देखो ! बाहुबली, श्री वसुदेव के पुत्र आदि का शरीर छूटा बाहर से मुनि हो गये किन्तु मन में थोड़ी सी मान कषाय के कारण दीर्घ काल तक तप करने पर भी आत्म सिद्धि नहीं हुई। जब वह कषाय-अंश दूर हुआ तभी मुक्ति प्राप्त हुई।

मधु पिंगल नाम का एक मुनि हुआ है। उसने आहार पानी को छोड़ा, तप भी किया परन्तु निदान मात्र से वह भाव-श्रमण नहीं हुआ। इसलिये भव्य

जीव को केवल बहिरंग से ही नहीं किन्तु द्रव्य और भाव दोनों से मुक्त होना चाहिए तब मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये हे आत्मन् ! अगर तू संसार से मुक्त होना चाहता है तो बाह्य शरीर-सम्बन्धी जो अपने कुटुम्बादि का मोह है उसको त्याग करके इस मनुष्य भव को शीघ्र सार्थक कर। कहा भी है कि-

निर्वाणादिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्मान्विते।
लब्धे स्वल्पमचारू कामजसुखं नो सेवितुं युज्यते।।
वैडूर्यादिमहोपलादिनिचते प्राप्तेऽपि रत्नाकरे।
लातुं स्वल्पमदीप्ति काचशकलं किं चोचितं सांप्रतम्॥

मोक्ष सुख को देने वाला तुझे मनुष्य भव मिला है और उसमें भगवान जिनेन्द्र देव का धर्म भी प्राप्त हुआ है। फिर तुझे इसके द्वारा विषय सुख भोगना कभी उचित नहीं। यह इन्द्रिय सुख तो अल्प है परन्तु वह महान् आत्म सुख बैठे-बैठे नहीं मिल सकता। इसके लिये यदि उपयोग नहीं लगावेगा तो उस सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसे रत्न का समूह जहाँ है उस रत्नाकार से निकाल कर धोने पर स्वच्छ करने पर उसकी कीमत अधिक होती है। खान से निकलते ही कीमत अधिक नहीं होती। यदि खान से निकले हुए रत्न को कान्तिहीन समझ कर कोई मूर्ख कंकड़ समझ करके उसका उपयोग नहीं करता है और फेंक देता है तो समझना चाहिए कि वह रत्न को त्याग करके कांच को लेता है। इसी प्रकार इस मनुष्य भव रूपी रत्न का अज्ञानी जीव को मूल्य मालूम नहीं है इसीलिये वह तुच्छ विषय सुख के लिये जैन धर्म को त्याग कर अल्प सुख वाले कांच के टुकड़े को लेता है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिये हे जीव ! अगर इसका मूल्य समझ करके इसका उपयोग नहीं करेगा तो परभव में तथा इस भव में तुझे सुख और शान्ति नहीं मिलेगी। अगर तुझे संसार से छुटकारा पाना है, मोक्ष सुख की प्राप्ति करनी है तो इस शरीर के द्वारा संयम धारण कर। इसी के द्वारा धर्म-साधन बन सकता है। इसीलिये जब तक यौवन अवस्था रहे, शरीर तथा इन्द्रियों का बल जब तक क्षीण न होने पावे, जब तक शरीर काम कर रहा है तब तक रात दिन धर्म का साधन करके

संसार की यात्रा करना उचित है। कहा भी है कि–

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता, दन्ताश्च नाशं गताः।
दृष्टिभ्रश्यति रूपमेव ह्रसते वक्त्रं च लालायते॥
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते।
धिक् कष्टं जरयाभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते॥

जब तक वृद्धावस्था में शरीर सिकुड़ न जाय, चलना फिरना बन्द न हो जाय, दांत जब तक न गिरें, आँखों से जब तक ठीक दिखाई देता रहे, जब तक रूप नहीं घटे, जब तक मुख से लार न गिरे, जब तक बन्धुजन तिरस्कार न करें, जब तक लोग वृद्ध आदि से उच्चारण न करें, वृद्ध को देखकर स्त्री सेवा नहीं करती है तब तक तू सबसे पहले पर भव सुख की प्राप्ति करने की कोशिश कर। लोगों के धिक्कार करने से पहले, पुत्र द्वारा तिरस्कार होने से पहले तू अपने आत्म-साधन की चेष्टा कर। वृद्धावस्था का जीवन केवल कष्ट रूप है, ऐसा समझकर उत्तम गति का साधन कर। इस प्रकार आचार्य ने इस अज्ञानी मनुष्य को जगा कर आत्म-साधन में लगाने की चेष्टा की है।

नडेवेयोळ् नुडिवेडेयोळ् बिडदेंतु निन्न नोडु निन्निंदात्मा।
तडेयदे मुक्तिय नेयदुवे कडगुलि नीं निनगे शरणु मतोंदुंटे॥11॥

हे आत्मन् ! चलते समय, बोलते समय, सोते समय, खाते समय, व्यवहार करते समय, या अन्य किसी हालत में क्यों न हो, उस समय प्रतिदिन अपने से आप को देखो तथा चिन्तवन करो। इस प्रकार चिन्तवन करने से तुम्हारी कोई हानि नहीं है। इसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र होगी। इसको छोड़कर तुमको अपने लिये और कोई शरण नहीं है अर्थात् अपने को आप ही शरण है।

विवेचन–ग्रन्थकार ने इस श्लोक में इस जीव को सम्पूर्ण पर-वस्तु से हटाकर अपने शरीर में वास करने वाले स्व आत्मा और पर पदार्थ के ज्ञान के द्वारा स्वपर का भेद करके केवल अपने शुद्ध आत्मा की भावना करने का संकेत किया है। यह अज्ञानी जीव शुद्ध भावना के बिना चर्तुगति में भ्रमण करके अनेक पुद्‌गल परमाणु ग्रहण करके छोड़ आया है। संसार में ऐसी कोई

भी चीज शेष नहीं है जिसका इस जीव ने परिचय न किया हो, देखा न हो उसका अनुभव न किया हो, यानी सब चीजों का अनुभव किया है परन्तु अपने शरीर में विद्यमान अपने आत्मा का आज तक अनुभव नहीं किया। इस कारण पर द्रव्य में राग परिणति करने के कारण उसी पर वस्तु के प्रति रागी द्वेषी मोही होकर उसी को अपना मानकर उसी का अनुभव करता हुआ आ रहा है और उसी में सुख मानकर उसके पीछे जन्म मरण करके दु:ख उठा रहा है। इसीलिये इस जीव को आज तक सुख का लेश मात्र भी प्राप्त नहीं हुआ।

आचार्य ने बतलाया है कि सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र, जो आत्मा का धर्म है, वही अपना स्वरूप है जब तक उसकी शरण में नहीं जाओगे तब तक इस जीव की कोई रक्षा करने वाला नहीं है। सुख और शान्ति को देने वाला नहीं है। रात दिन पंचेन्द्रियों के क्षणिक विषय के लालच में पड़कर उसी की प्राप्ति के लिये रात दिन देश-देशान्तर घूमता रहता है, परन्तु इतने घूमने पर भी इसे तिल मात्र भी सुख नहीं मिलता है। जितना, पूर्व जन्म में पुण्य करता है उसी के अनुसार संसारी सुख मिलता है। जब पुण्य होता है तो जीव अपने दु:ख को भूल जाता है। जब पुण्य का उदय नहीं होता है तो पाप का उदय होता है तब दु:ख पाता है। ऐसे अपने आप ही पाप और पुण्य का फल भोगता है। परन्तु अखण्ड अविनाशी आत्म निधि अपने पास होते हुए भी उसकी पहिचान आज तक इसने नहीं की यह कितने आश्चर्य की बात है। इसलिये सद्गुरु कहते हैं कि निस्सार शरीर में सारभूत आत्मा की प्राप्ति आज तक इस जीव को नहीं हुई। जैसे आकाश में बादल क्षण में एकत्रित हो जाते हैं और हवा से क्षण में फट जाते हैं। इसी प्रकार पुण्य क्षणिक रहता है और क्षण भर में विलीन हो जाता है। इसी तरह पंचेन्द्रिय सुख इस आत्मा के साथ स्थायी कभी न रहा है और न कभी रहेगा। इसलिये बड़े-बड़े चक्रवर्ती महान तीर्थंकरों ने जब इसका स्वरूप ठीक तरह से समझ लिया तब उन्होंने इसका मोह छोड़ करके शुद्धात्मा की प्राप्ति कर ली। बतलाया है कि–

वाताभ्रमिव भ्रममिदं वसुधाधिपत्यम्,

आपातमात्रमधुरो विषयोपभोगः।
प्राणास्तृणाजलबिन्दुसमा नराणां,
धर्मः सखा परमहो परलोकयाने॥

इस पृथ्वी का आधिपत्य, वायु के वेग से तितर बितर होने होने वाले मेघ के समान अस्थिर है, तथा संसार सम्बन्धी समस्त विषयोपभोग आपात मधुर है अर्थात् उपभोग काल में ही ये विषयोपभोग मधुर होते हैं, परिणाम में नहीं, तथा मनुष्यों के प्राण तृण के अग्रभाग पर रहे हुए जल बिन्दु के समान चंचल हैं अर्थात् न जाने ये प्राण पखेरू कब इस तन को छोड़कर उड़ जायेगा। अहो ! यह कितने आश्चर्य की बात है, कि इन नश्वर वस्तुओं के लिये मनुष्य घोर प्रयत्न करता रहता है तो भी ये सभी वस्तुएँ मनुष्य की सर्वदा सहचर नहीं होती। सर्वदा सहचर है तो एक मात्र धर्म ही है, जो परलोक प्रयाण काल में भी साथ नहीं छोड़ता अर्थात् परलोक जाने के समय मनुष्यों का एक मात्र सखा धर्म ही होता है। अतः परलोक में सच्ची मित्रता निभाने वाला यह आराधित एक मात्र धर्म की है जिसको विषयाभिलाषी जन भूले हुए हैं।

आत्मा को धर्म ही शरण है इस धर्म को अपने हृदय में श्रद्धान् पूर्वक रखना चाहिये और जैसे कोई लोभी मनुष्य अपने द्रव्य को किसी स्थान पर सुरक्षित रखता है वह देश विदेश में कहीं जाय या किसी दुःख में रहे या सोने में या खाते समय या अन्य कोई कार्य करते समय चलते फिरते समय नींद में यानी प्रत्येक दशा में उसका उपयोग अपने सुरक्षित धन के प्रति लगा रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी जीव का हमेशा आत्म-रूपी धन के प्रति उपयोग रहना चाहिए क्योंकि धर्म के सिवाय संसार में किसी से भी सुख और शान्ति आज तक नहीं मिली। जितने भी अरबपति या खरबपति हुए वे अन्त में धर्म की शरण में आकर, उसकी आराधना करके ही हमेशा के लिये सुखी हुए हैं। संसार में धर्म की एक बन्धु है, धर्म ही मित्र है, धर्म ही पिता है, तथा माता है, जो कुछ वह सब धर्म ही है। अतः ज्ञानी जीव को धर्म से अलग कभी नहीं होना चाहिए।

आत्म-स्वरूप में मग्न हुआ योगी ही इस आत्म-स्वरूप को प्राप्त

कर सकता है, अन्य नहीं। कहा भी है कि–

उपरितबहिरंतः कल्पकल्लोलमाले,
लसदविकलविद्यापद्मिनी-पूर्ण-मध्ये।
सततममृतमंतर्मानसे यस्य हंसः,
पिवति निरुपलेपः सोऽत्र निष्पन्न योगी॥

हे आत्मन् ! तू शुद्ध आत्मा का ज्ञानी होकर परभव को भूल गया है। अर्थात् अपने शुद्धात्मा का अनुभव करके बाह्य आभ्यन्तर में तथा विषय भोगों द्वारा होने वाले संकल्प विकल्प जाल को अपने आत्मा में तिल मात्र भी स्पर्श न करने दे और जिनकी आत्मा ने हृदय कमल में स्थिर होकर उसको प्रफुल्लित किया है, हृदय रूपी समुद्र में हमेशा पानी के ऊपर रहने वाले कमल के समान शोभनीय आत्म-तत्त्व को जिन्होंने मनन किया है अर्थात् इस आत्मामृत को मानस सरोवर में स्थिर होकर हंस पक्षी के समान जो पान करता है, उसकी आत्मा निष्पन्न योगी के नाम से प्रसिद्ध होकर जगत के जीवों के लिये पालक बन जाती है। उन्हीं के लिये उन्हीं के हाथ में केवल ज्ञानरूपी ऐश्वर्य अर्थात् मोक्ष पद क्षण मात्र में आधीन होता है, वह उसका साधन करके हमेशा आत्मानन्द सुख में मग्न रहता है।

निष्पन्न योगी अपने मन में ऐसा विचार करता है कि–

यत्सूक्ष्मं च महच्च शून्यमपि यन्नो शून्यमुत्पद्यते।
नश्यत्येव च नित्यमेव च तथा नास्त्येव चास्त्येव च॥
एकं यद्यदनेकमेव तदपि प्राप्तं प्रतीतिं दृढ़ां।
सिद्धज्योतिरमूर्ति चित्सुखमयं केनापि तल्लक्ष्यते॥

जो सिद्ध ज्योति सूक्ष्म भी है और स्थूल भी है, शून्य भी है, और परिपूर्ण भी है, उत्पाद विनाशशाली भी है और नित्य भी है सद्भावरूप भी है और अभावरूप भी है, तथा एक भी है और अनेक भी है, ऐसी वह दृढ़ प्रतीति को प्राप्त हुई अमूर्तिक, चेतन एवं सुख स्वरूप सिद्ध ज्योति किसी विरले ही योगी पुरुष के द्वारा देखी जाती है। इस विषय में और भी कहा है कि–

अप्पा बुज्झहि दव्वु तुहुं गुण पुणु दंसणु णाणु।

पज्जय चउ गइ भाव तणु कम्म विणिम्मिय जाणु॥
अप्पा मिल्लिवि णाणियहं अण्णु ण सुंदरु वत्थु।
तेण ण विसयहं मणु रमइ जाणंतहं परमत्थु॥

मिथ्यात्व रागादिक के छोड़ने से निज शुद्धात्मा द्रव्य के यथार्थ ज्ञानमय जिनका चित्त परिणत हो गया है, ऐसे ज्ञानियों को शुद्ध-बुद्ध परम स्वभाव परमात्मा को छोड़ कर दूसरी कोई भी वस्तु सुन्दर नहीं भासती। इसलिए उनका मन कभी विषय वासना में नहीं रमता। सांसारिक विषय शुद्धात्मा की प्राप्ति के शत्रु हैं। ये भव भ्रमण के कारण हैं, काम भोग रूप पांच इन्द्रियों के विषय में मूढ़ जीवों का ही मन रमता है, सम्यग्दृष्टि का मन नहीं रमता। सम्यग्दृष्टि ने वीतराग सहजानन्द अखण्ड सुख में तन्मय परमात्म तत्व को जान लिया है। इसलिये यह निश्चय हुआ, कि जो विषय वासना के अनुरागी हैं, वे अनुरागी हैं और जो ज्ञानी जन हैं, वे विषय भोगों से विरक्त रहते हैं।

शीतोष्णदंश मशकद, वातद वादे गळिगळुकदळ्काडदे नीं।
माताळ्दे किविगेळ्द, चेतनदवोलिर्दुनेनेय निन्निं निन्नं॥12॥

हे योगी ! तुम आत्म ध्यान में शीत उष्ण की बाधा से तथा मक्खी मच्छर आदि के डसने से विचलित न होओ, न मुख से कुछ बोलो और न किसी सांसारिक बात को सुनकर चलायमान होओ। पत्थर की मूर्ति के समान अचल, एकाग्र होकर अपने आत्मा में तन्मय-लीन होकर अपने आपको ही देखो, मनन करो, चिन्तवन करो। तब तुमको अपना स्वरूप स्वयं ही दिखेगा।

विवेचन—ग्रंथकार ने इस पद्य में यह बतलाया है कि कर्मों से मोक्ष तभी हो सकता है जब शरीर से ममता दूर हो, पर अपनी आत्मा के प्रति गाढ़ श्रद्धान् होकर, आत्मा को सांसारिक विषयों से उसी प्रकार खींच लिया जावे जिस प्रकार वृक्ष को जड़ समेत जमीन से उखाड़कर खींच लिया जाता है। तब तक तुम्हारे भावों में कर्म की जड़ मोह खींचने की शक्ति नहीं होगी अर्थात् अडिग आत्म-श्रद्धान् नहीं होगा तब तक बाह्य तपस्या से कर्म की निर्जरा न होगी और आत्मा का अनुभव नहीं होगा। किसान जब तक खेत में उगने वाली घास को ऊपर-ऊपर ही तोड़ के डालता रहे तब तक उस घास का

उगना बन्द नहीं होता। जब वह उस घास की जड़ उखाड़ कर फेंक देता है, तब ही खेत में घास का उगना बन्द होता है। इसी प्रकार कर्म की निर्जरा करने के लिये अंतरंग और बहिरंग वेदना को, शारीरिक मोह को त्याग कर सहन करें तब आत्मा कर्म को जड़ से निकाल सकता है।

परीषह सहन करने की प्रेरणा–

दुक्खाइं अणेयाइं सहियाइं परवसेण ससांरे।
इण्हं सवसो विसहसु अप्पसहावे मणो किच्चा॥

अर्थ–हे आत्मन् ! पराधीन-कर्मों के अधीन होकर तूने संसार में अनेक दुःख सहे हैं, अब आत्म स्वभाव में चित्त लगाकर स्वाधीनता से इन दुःखों को सह।

भावार्थ–जिस समय क्षुधा प्यास उष्ण आदि की तीव्र परीषह सहने का अवसर आ जाय उस समय मुनि को यह भावना करनी चाहिए कि हे आत्मन् ! जन्म जरा मरण से व्याप्त इस चतुर्गतिरूप संसार में कर्मों के आधीन हो तूने तिल तिल कर शरीर का छिदना, कट जाना, तेल से भरे हुए तप्त कढ़ाहों में पड़ना, असिपत्रों से शरीर के खंड-खंड हो जाना, गरम गरम बालू में नृत्य करना, आपस में लड़कर एक दूसरे के शस्त्र से कट जाना, आरा आदि से चिर जाना, अत्यन्त भार का ढोना, बंधना, जलना शीत उष्ण की बाधा सहना, दरिद्र होना, पुत्र प्रिया का वियोग सहना, राजा से तिरस्कार और जुआ आदि दुर्व्यसनजन्य पीड़ा का सहना, दूसरे की विपुल ऋद्धि देख मन में क्लेश होना आदि अनेक घोर से घोर क्लेश सहे हैं। इस समय यद्यपि तेरे ऊपर घोर आपत्ति आकर पड़ी है तथापि यह तेरे आधीन है क्योंकि स्त्री पुत्र आदि से विरक्त होकर संन्यास धारण कर इन परीषहों को स्वयं तूने अपने ऊपर आने की आज्ञा दी है इसलिए शुद्ध आत्मा में मन को लगाकर प्रसन्न्ता से उन्हें सहना चाहिए। परीषहों के तीव्र दुःख से दुःखित मुनि जिस समय परम उपशम सम्बन्धी भावना भाता है उस समय उसके कर्मों का नाश होता है।

अइ तिव्ववेयणाए अक्कंतो कुणसि भावणा सुसमा।

जइ तो णिहणासे कम्मं असुहं सव्वं खणद्धेण॥

अर्थ—हे आत्मन् ! परीषहों की तीव्र वेदना से दु:खित होकर जिस समय तू परम उपशम भावना करेगा उस समय आधे क्षण में तेरे समस्त अशुभकर्म नष्ट हो जायेंगे।

भावार्थ—शरीर आदि मेरे हैं, मैं इनका हूँ, इत्यादि विचारों का निग्रह करना, जिस प्रकार मेघ से आकाश विकृत नहीं होता उसी प्रकार जन्म जरा रोग आदि विकार भी मेरी विशुद्ध आत्मा को विकृत नहीं बना सकते, उनसे शरीर विकृत बन सकता है इस प्रकार का विचार करना तथा मोहजनित और भी नाना प्रकार के संकल्प विकल्पों को नष्ट कर शुद्धचिद्रूप में स्थिति करना सुषमा भावना है। जो मुनि भूख प्यास शीत उष्ण दशंमशक आदि की तीव्र वेदना से आक्रान्त होकर विशुद्ध भावों से उपर्युक्त भावना को भाता है, उसके देखते-देखते समस्त अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं किन्तु जब तक उपर्युक्त भावना का अवलम्बन नहीं किया जाता तब तक अशुभ कर्मों का नाश नहीं हो सकता। इसलिये मुनि को चाहिए कि वह परीषहों की तीव्र वेदना के उपस्थित हो जाने पर भी परमात्मा की भावना अवश्य करें। परीषहों के सहने में असमर्थ हो यदि कोई मुनि चारित्र का त्याग कर देता है तो उसे इस लोक परलोक में क्या फल मिलता है। इस बात को कहते हैं—

परिसहभडाण भीया पुरिसा छंडति चरणरणभूमी।
भुवि उवहासं पविया दुक्खाणं हुंति ते णिलया॥

अर्थ—जो पुरुष परीषह सुभटों से भयभीत होकर चारित्र रूपी संग्राम भूमि 'को छोड़ भागते हैं वे संसार में हास्य के पात्र बनते हैं और अनेक प्रकार के दु:खों का उन्हें सामना करना पड़ता है।

भावार्थ—जिस प्रकार शूरवीरों से भयभीत होकर संग्राम से पीठ दिखाने वाला पुरुष संसार में हंसी का पात्र बनता है और राजदण्ड, निन्दा आदि अनेक प्रकार के दु:खों को सहता है, उसी प्रकार जो पुरुष चारित्र रूपी विस्तीर्ण संग्राम भूमि से यह जानकर भी कि व्रत समिति, गुप्ति आदि विशाल योद्धाओं के सामने किसी की दाल नहीं गल सकती, निर्बल हो परीषहरूपी

कुछ सुभटों से भय खाकर उसे पीठ दिखाकर भाग जाता है—चारित्र का पालन करना छोड़ देता है, उस पुरुष की सब लोग हंसी करते हैं और चारित्र से भ्रष्ट हो जाने पर उसे नर नारक आदि गति में भ्रमण करके तीव्र दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिये जो पुरुष संसार से भय करने वाले हैं और संसार के दुःखों को भोगना नहीं चाहते उन्हें चाहिए कि वे चारित्र को प्राप्त होकर परीषहों के भय से उससे विमुख न हों किन्तु परीषह रूपी सुभटों की कठिन मार झेलते हुए भी आगे ही बढ़ते चले जायें। अखण्ड अविनाशी मोक्ष राज्य को पाकर कीर्ति का उपार्जन करें एवं समस्त प्रकार के दुःखों से छूटें।

हे योगी ! तुम स्व पर ज्ञान के द्वारा शरीर और आत्मा को भिन्न करके निजानन्द अखण्ड, अविनाशी ज्ञान दर्शन युक्त, शुद्ध चैतन्यमय, आत्मानन्द, एकाग्रता से आप अपने अन्दर स्थिर होकर के योगामृत का पान करो। आत्मा से शरीर भिन्न है और यह शरीर रूपी पिण्ड इस जीव ने अज्ञान से रागभाव से अपनाया है। उस रागभाव के निमित्त राग परिणति के द्वारा किया हुआ जो शुभाशुभ आस्रव आत्मा के अन्दर प्रवेश करता है, वह अचेतन या जड़ है। इस रूपी अचेतन और जड़ में यह आत्मा ममत्व भाव करने के कारण अपने असली स्वभाव को भूलकर जड़ का परिचय करके जड़-बुद्धि वाला हो गया है। इस जड़त्व को प्राप्त होकर जड़ के स्वभाव को अपना स्वरूप मानकर जन्म और मरण के चक्कर को काटते हुए अनेक प्रकार का दुःख भोग रहा है। इस प्रकार यदि स्व-पर के भेद को कोई समझेगा तो इस जड़ के साथ उसका वंधा हुआ सम्बन्ध टूट जायेगा।

इसलिये हे योगी ! तुम्हारा स्वरूप रूप रस गंध और स्पर्श आदि से रहित निर्मल, निर्विकार अरूपी है। आत्मानन्द को अपना करके जड़ का सम्बन्ध हटाने की कोशिश करो। तदनन्तर अपने अन्दर यह विचार करो—मेरा अपना आत्मा अरूपी है। मैंने अनादिकाल से जड़ का मोह करके जड़ के साथ ही अपने को मान लिया है। जड़ रहित शुद्ध चैतन्य, निर्विकार, निरंजन, आत्मदेव मेरे अन्दर ही मौजूद हैं।

हे योगी ! तू ऐसा विचार कर कि हे आत्मन् ! मैंने अनादिकाल से

योग धारण किया, कठिन तपस्या की तो भी मुझे सच्ची आत्मा की प्रतीति नहीं हो सकी। श्री गुरु के द्वारा स्व और पर की मुझे अब पहचान हो गयी है। मैं अनेक प्रकार के उपसर्ग, अनेक प्रकार की बाधाओं, अनेक प्रकार की वेदनाओं को आज तक जो अपना मानता था, यह केवल शरीर के मोह के कारण मुझ को ही हो रहा है। ऐसा मुझको प्रतीत हो रहा था। यह सब मोह की महिमा है। राग परिणति के कारण मेरी आत्मा शरीर में होने वाले सुख-दुःखों को अपना मानकर बैठा था। अब ये सुख-दुःख मुझको नहीं होते हैं मैं इनसे भिन्न हूँ। यह शरीर मुझसे भिन्न है। अब मुझे किसी प्रकार की बाह्य विषय-वासना की जरूरत नहीं है। मुझे मेरे अन्दर इस अमृतमयी निर्मल, निर्विकार, परमस्वरूप, परमानन्द का आस्वाद आ रहा है। मुझे बाह्य पदार्थों से क्या काम है।

हे योगी ! अपने अन्दर मग्न होकर यह विचार कि आत्मा शुद्ध ज्ञान, दर्शन चारित्र स्वरूप शुद्ध धर्म वाला है। शुद्ध ज्ञान दर्शन चारित्र ही मेरा स्वरूप है। अन्य कोई मेरा स्वरूप नहीं है। मैं बाधारहित हूँ, चिदानन्द सिद्ध हूँ, अदोषी हूँ, परमात्म रूप हूँ। ऐसी भावना भाते हुए अपने साथ लगे हुए कर्म कलंक को निर्मल आत्मज्ञान से धो डालो।

हे योगी ! तू जिस शरीर को धारण किये हुए है, उस शरीर में यह आत्मा सुज्ञान, सुदर्शन, सुख और शक्ति रूप से युक्त है। यह आत्मा निराकार है किन्तु यह साकार शरीर में रह रही है। ऐसे आत्माराम का कहाँ तक वर्णन करें।

यह आत्मा क्षत्रिय नहीं है, वैश्य नहीं है, शूद्र भी नहीं है। ब्राह्मण आदि संज्ञाएँ इस आत्मा को इस शरीर की अपेक्षा से प्राप्त होती हैं। यह आत्मा योगी नहीं है गृहस्थ भी नहीं है। यह आत्मा योगी, श्रमण, संन्यासी आदि जिस-जिस नाम से पुकारा जाता है, वह सभी नाम पर-कृत हैं। इस आत्मा ने जैसे-जैसे विभिन्न पुद्गल पर्यायों में भाव किये है वैसे-वैसे नामकरण को प्राप्त हुआ है। ये सभी जड़ पुद्गल के निमित्त से हैं। निर्मल, अविकारी, अरूपी, ज्ञानदर्शन आत्मा के नहीं है। हे योगी ! यह आत्मा स्त्री नहीं है, स्त्री

की अपेक्षा करने वाला भी नहीं है। पुरुष भी नहीं है, नपुसंक भी नहीं है। मीमांसक भी नहीं है, सांख्य भी नहीं है। नैयायिक भी नहीं है, बुद्ध स्वरूप वाला भी नहीं है। यह सभी पुद्गल का ही खेल है अर्थात् ये सब व्यवहार मात्र हैं। निश्चयनय से विचार करके तू अपने अन्दर देखेगा तो आप ही आप है। निर्विकार अखण्ड है। झाड़ी, वृक्षादि पर्याय से रहित, सुन्दर मैदान के समान तथा आकाश रूप चित्-स्वरूप है। इसलिये इस चित् स्वरूप में रत होकर अपने आपको पहचान। अपने अन्दर क्रीड़ा करने वाले को विकारमय बाह्य जगत की जड़ वस्तु दिखाई नहीं देतीं। यह योगी के ध्यान की महिमा है।

अपने अन्दर ही देखकर अपना पता लगाओ, ऐसा कहते हैं–

निन्नने निन्नं नीनूं निन्ने डेयोळ् निन्ननिट्टु श्राविसु निहतं।
निन्न स्वरूपनेयय्पै निन्नं नीनरिदु निन्नोळे निलु योगी ॥ 13 ॥

हे योगी ! आप अपने में आप को रखकर अपने द्वारा आप ही चिन्तवन करो। इस प्रकार चिन्तवन करने से आप अपने अन्दर अपने को क्या प्राप्त नहीं होगा ? अवश्य सब कुछ होगा। आप अपने को समझकर अपने अन्दर रहो। और अपने स्वरूप का ही चिन्तवन करो, ध्यान करो, अपने अन्दर ही लीन रहो। ऐसा इसका तात्पर्य है।

विवेचन–ग्रन्थकार ने इस पद्य में इस जीव को समझाया है कि हे योगी ! सम्पूर्ण पर पदार्थ का चिन्तवन छोड़कर केवल अपना ही ध्यान कर। इस तरह ध्यान या चिन्तवन करने से आप अपने अन्दर ही प्राप्त होगा, अर्थात् अपने ही अन्दर निजानन्द योगामृत का अनुभव आयेगा। अनादिकाल से तूने बाह्य विषयजनित सुख का सेवन किया, खूब परिचय किया, चिन्तवन किया, परन्तु आज तक उसमें अपने आत्मा को तृप्त करने वाली कोई वस्तु तुझे प्राप्त नहीं हुई। केवल दुःख ही दुःख मिला, सुख कभी नहीं मिला। इसलिये हे आत्मन् ! अब तू इन सम्पूर्ण विषयजन्य पर पदार्थ को अपने से भिन्न रखकर आप अपने ही अन्दर रत होकर देखेगा तो पता चलेगा कि मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है। आचार्य ने कहा भी है कि–

इयं मोहन्द्रा जगत्रय विसर्पिणी।

यदाक्षीणा तदा क्षिप्रं पिव ध्यानसुधारसं॥
नहि काले कलौ कापि विवेक विकलाशयैः।
अहो प्रज्ञाधनैर्नेया नृजन्मति दुर्लभा॥

यह मनुष्य जीवन प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है, इसलिये ज्ञानी लोग अज्ञान में फंसकर काल के एक क्षण को भी व्यर्थ नहीं करते। सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप स्व-समय है और उससे भिन्न जितना भी पर है वह सब पर समय है। ऐसा विचार करके स्व-समय ही मेरा आत्म-स्वरूप है ऐसा दृढ़ निश्चय करके जिन्होंने अपने शुद्धात्मा का विचार किया है तथा उसे प्राप्त करने का जो प्रयत्न करता है वह भव्यज्ञानी जीव आत्म-तत्व को उपादेय समझ कर अपने को आप प्राप्त होता है। और भी कहा है–

कल्पेशनागेशनरेशसंभवं चित्तं सुखं मे सततं तृणायते।
कुरआीं रमा स्थान तदे हदे हजात सदेति चिंत्र मनुतेल्पतिसुखम्॥

मैं शुद्ध चित्त हूँ, ऐसे मैंने सुन्दर आत्म-सुख को समझ लिया है। उस सुख के सामने नागेन्द्र, देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के जो सुख हैं वे सभी सुख तुच्छ हैं ऐसा मुझे प्रतीत होता है। परन्तु अज्ञानी लोग दुःख रूप स्त्री, धन स्वर्णादिक को और घर, शरीर, पुत्रादि को ही यथार्थ समझ बैठे हैं, यह कितने आश्चर्य की बात है।

पर भाव को त्यागे बिना आत्म सिद्धि की प्राप्ति अति दूर हैं।

एनितेनितु निन्न भाविस लनितनितं पडेवे सुखमनितिंद नरिदे।
लल्नितं परवं भाविसि मुनि विडदिरू बंदिकारणतेरदिं॥ 14॥

हे योगी ! जितना जितना आप अपने अन्दर रत होकर भावना करेंगे उतना ही आत्मसुख को प्राप्त होंगे। इस बात को समझकर स्वरूप ज्ञान से रहित होकर बाह्य विषय कषाय में बद्ध होकर रहने वाला तथा परवस्तु का आश्रय करने वाला कभी आत्म सुख की प्राप्ति नहीं कर सकता। बाह्य विषय वासना में फंसकर अपने आत्मा से वंचित रह कर तू अपने मनुष्य जन्म को

व्यर्थ ही न खो बैठना। अगर सुख और शांति प्राप्त कर शीघ्र ही तू इस संसार के महान संकट से छूटना चाहता है तो परवस्तु को तिल मात्र भी अपने हृदय में आने का मौका न देना अर्थात् उसकी भावना स्वप्न में भी न करना। अगर थोड़ा भी पर-पदार्थ के लालच में आकर उसकी तरफ उपयोग दौड़ायेगा तो निश्चय से तू भ्रष्ट हो जायेगा। इस बात का विचार करके तू मननपूर्वक पर वस्तु के मोह को हटाकर केवल आत्म-साधन में निरंतर लग जा।

हे योगी ! तूने आज तक पर-वस्तु में रमण करे हुए अपने आत्मा को जो दुःखमय बना दिया है इसका कारण पर-वस्तु ही है। देखो कहा भी है कि-

इष्टार्थाद्यदवाप्ततद्भवसुखक्षाराम्भसि प्रस्फुर
न्नानामानसदुःखवाडवशिखासंदीपिताभ्यन्तरे।
मृत्युत्पत्तिजरातरंगचपले संसारघोरार्णवे-
मोहग्राहविदारि हास्यविवराद्दू रेचरा दुर्लभाः॥

संसार एक भयंकर विस्तीर्ण समुद्र के समान है। समुद्र में खारा जल भरा रहता है जिसको यदि कोई भी पीता है तो उसकी तृप्ति नहीं होती, उल्टा दाह बढ़ता है। इसी तरह संसार समुद्र में विषय-जन्य सुख हैं जो क्षण-भंगुर होने से तथा दुःखपूर्ण होने से पीने वाले की तृप्ति नहीं कर सकते। जैसे बड़वानल अग्नि जलती रहती है जिससे कि समुद्र भीतर से निरन्तर जला करता है और स्थिरता नहीं पड़ती। उसी तरह संसार में मानसिक तीव्र वेदनाएँ हैं, जो कि निरन्तर जाज्वल्यमान रहती हैं जिनसे कि जीवों का अन्तःकरण निरन्तर जला करता है किन्तु शान्ति क्षणभर के लिये भी नहीं मिलती। समुद्र में तरंगें निरन्तर उठती हैं और विलीन होती हैं, संसार में भी जन्ममरण जरा रूप तरंगों की माला निरन्तर उठती रहती हैं जिससे कि एक क्षणभर के लिये भी स्थिरता नहीं होती। इस गति से उसमें, उससे भी और तीसरी गति में, इस तरह जीव सदा भ्रमता ही रहता है। समुद्र में बड़े-बड़े मगर आदि मुख फाड़े हुए पड़े रहते हैं जो किसी भी जन्तु को पास आते ही निगल जाते हैं। इस संसार में भी मोह रूप मगर नाके आदि भयानक जलचर जीव निरन्तर मुख फाड़े हुए पड़े रहते

हैं। कोई भी पास आया कि झट निगल जाते हैं। रागद्वेष की उत्पत्ति निरन्तर होती ही रहती है जिससे कि सदा अशुभ कर्मों से यह जीव लिप्त होता रहता है। यही मोह ग्राह का निगलना है। इस संसार समुद्र में रहते हुए भी जो इन मोहग्राहों से बचे रहते हैं वे अत्यन्त विरले हैं। इस दु:ख सागर से पार होते हैं, तो वे ही होते हैं। अरे भव्य ! तुझे भी इस संसार समुद्र में रहकर इसी तरह बचना चाहिए, तभी तेरा बेड़ा पार होगा।

बचकर भी क्या करना चाहिए–

अव्युच्छिन्नैः सुखपरिकैर्लालिता लोलरम्यैः,
श्यामांगीनां नयनकमलैरर्चिता यौवनान्तम्।
धन्यासि त्वं यदि तनुरियं लब्धबोधे मृगीभि,
र्दग्धारण्यस्थलकमलिनीशंकयालोक्यते ते॥

अन्तराय-रहित जो विविध सुख, उनसे जिस शरीर की लालना हुई हो, सुन्दर स्त्रियों के चंचल रमणीय नेत्र कमलो से जिस शरीर का निरन्तर सत्कार होता रहा हो, अर्थात् जिसको स्त्रियों ने चंचल नेत्रों से देखने में अपना आज तक का समय गंवाया हो, ऐसा तेरा जन्म से लेकर सुख में लीन रहा हुआ जो शरीर है वह यदि ज्ञान प्राप्त होकर सच्चे तपश्चरण करने में ऐसा लीन हो कि विचरती हुई हरिणी उस शरीर को देखकर जले हुए जंगल का मुरझाया हुआ गुलाब (स्थलकमलिनी) समझ कर निर्भय देखने लग जाय, तो मैं तुझे धान्य मानूँगा।

जो जन्म से लेकर दु:खी हैं वे यदि तपश्चारणादि कष्टों को सहें तो सहज सह सकते हैं, क्योंकि उन्हें दु:ख सहन करने का अभ्यास हो चुका है परन्तु जो जन्म से सुखी हैं, कभी कष्ट का नाम तक हीं सुनते, वे यदि इस उत्तम धर्म को धारण करें तो अधिक महत्व की बात है, ऐसे मनुष्य विषय से रहित सच्चे धर्म को तभी धारण कर सकते हैं। यदि उन्हें सच्चे धर्म से प्रेम उत्पन्न हो चुका हो।

भीतरी मिथ्यात्व को मन से हटाओ–

कडेयिल्लद संसारदकडेयेल् बगेओडल्लि मिथ्यादिगळोळ।

तोडरदे निन्नोळ नीं निलेपडेवै निर्वाणपदवियं नीनेनसुं ॥ 15 ॥

हे योगी ! आप (नाना जीव की अपेक्षा से) अन्त रहित संसार का (एक जीव की अपेक्षा से) अंत करना चाहते हैं तो मिथ्या श्रद्धानादिकों में प्रवेश न करके अपने अन्दर आप ही स्थित हो जायें तो मोक्ष पद को अवश्य प्राप्त कर लेंगे। अगर तू मिथ्यामार्ग में एक सैकिंड भी मन को लगायेगा तो तू इस तप के फल को न पाकर पुनः संसार रूपी भयानक जंगल में भटकेगा।

विवेचन—ग्रंथकार कहते हैं कि हे योगी ! अगर तू आदि अंत रहित संसार का अंत करके, आदि अंत रहित आत्म स्वरूप को प्राप्त कर सुखमय अखण्ड अविनाशी मोक्षमहल में पहुँचना चाहता है तो तू अपने आत्मा को मिथ्यात्व का क्षणमात्र भी स्पर्श न होने दे क्योंकि तेरे आत्मा का संसार-भ्रमण का कारण एक मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व भाव विषय कषाय उत्पन्न करता है, आत्मा को मलिन करके पदार्थ का श्रद्धान असत् यानी आत्मा से विपरीत मान्यता को कर देता है। जीव स्व-शुद्ध-आत्म-स्वरूप से विपरीत होकर चारों गति में भ्रमण करते हुए अनेक प्रकार के दुःख और वेदनाओं को सहन करता आ रहा है इसलिये असत्य विपरीत मार्ग पर ले जाने वाली इस मिथ्या मान्यता के कारण मिथ्या पथ पर चल रहा है। अब तू जागृत होकर सम्यक् दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान के द्वारा स्व पर को अपने अन्दर ठीक समझकर स्व पर का भेद कर। जब तुझे भेदाभेद का सच्चा ज्ञान होगा तब आत्मा से भिन्न इन्द्रियजन्य भोगादि पर-वस्तु पर तेरा आवेश नष्ट हो जायेगा और पर-वस्तु पास होते हुए भी उन इन्द्रियजन्य भोगादि पर-वस्तु का मोह नहीं होगा। इसके बारे में अमृतचन्द्रसूरि अपने समयसार कलश में कहते हैं कि—

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन।
ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते॥
तदयमुदयदात्मारामममात्मानमात्मा।
परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति॥

जो आत्मा किसी प्रकार (बड़े भाग्य से) धारावाही ज्ञान से निश्चल शुद्ध भाव से प्राप्त हुआ स्थिर होता है वह आत्मा उदय होते हुए आत्मा के

शुद्ध रूप को पर परिणति में रागद्वेष मोह के निरोध से प्राप्त होता है। इस तरह शुद्धात्मा की प्राप्ति से संवर होता है। यहाँ पर जो धारावाही ज्ञान कहा गया है उसका अर्थ यह है कि जो एक प्रवाह रूपी ज्ञान हो वह धारवाही है। तो इसकी दो गतियाँ हैं एक तो मिथ्याज्ञान बीच में न आये ऐसा सम्यक्ज्ञान धारावाही है और दूसरा उपयोग के ध्येय के साथ उपर्युक्त होने की अपेक्षा। सो जहाँ तक एक ज्ञय से उपर्युक्त होता है वहाँ तक धारावाही कहा जाता है। इसकी स्थिति अंतरंग होती है। बाद में विच्छेद हो जाता है। सो जहाँ जैसी विवक्षा हो वहाँ वैसा ज्ञान होता है।

जो जीव अपने आत्मा को पुण्य पाप रूप दोनों शुभाशुभ रागों से रहित दर्शनज्ञान में ठहरा हुआ है अन्य वस्तु में इच्छा रहित और सर्व परिग्रह से रहित हुआ आत्मा से ही आत्मा को ध्याता है तथा कर्म को नहीं ध्याता और आप चेतना रूप होने से उस स्वरूप के साथ एकत्व का अनुभव करता है वह जीव दर्शनज्ञानमय हुआ पुण्य मन होकर आत्मा का ध्यान करते हुआ थोड़े समय में ही कर्मों से रहित आत्मा को पाता है।

परवाह मत करो–

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते।
भुंक्षे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः॥
बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्कि कामचारोऽस्ति ते।
ज्ञानं सच्चसबंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवं॥

अर्थ–हे ज्ञानी ! तुझको कुछ भी कर्म कभी करना योग्य नहीं है तो भी तू कहता है कि परद्रव्य मेरा है सो कदाचित् भी नहीं है और मैं भोगता हूँ। तो आचार्य कहते हैं यह बड़ा खेद है, जो तेरा नहीं उसको तू भोगता है, तो तू खोटा खांने वाला है। हे भाई जो तू कहे कि परद्रव्य के उपभोग से बंध नहीं होता इसलिये भोगता हूँ उस जगह क्या तुझे भोगने की इच्छा है ? तू ज्ञान रूप हुआ अपने स्वरूप में निवास करे तो बंध नहीं है और जो भोगने की इच्छा करेगा तो तू आप अपराधी हुआ, अपने अपराध से नियम से बंध को प्राप्त

होगा।

आत्मा का परिचय कैसे हो—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावासिरच्युतः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्॥

अर्थ—उत्पत्ति, स्थिति, नाश इन तीनों कर्मों का सतत रहना यह तो हुआ वस्तुओं का सामान्य लक्षण। इन्हीं सर्व वस्तुओं के अन्तर्गत जीव भी एक द्रव्य या तत्व है। उसका भी सामान्य स्वभाव तो वही है कि जो सर्व वस्तुओं का है परन्तु जीवों का जो निजी तत्व है वह उसी के कल्याण के लिये सारा घटाटोप है शास्त्रों का उपदेश व व्रत, तप, दान, धर्म ये सर्व कर्म केवल जीव के ही कल्याणार्थ कहे व किये जाते हैं इसलिये जीव की निराली पहिचान होना बहुत ही आवश्यक कार्य है। उसके कल्याण के मार्ग उसके जानने पर ही जाने जा सकते हैं। तब ?

जीव का स्वभाव ज्ञान है जीवों को जितने दुःख, अशांति, उद्वेग, क्षोभ होते दिखते हैं वह सब रागद्वेष के वश होने से व अज्ञान रहने से। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ पर राग-द्वेष की कमी व ज्ञान की वृद्धि दीख पड़ती है वहाँ-वहाँ पर सुख-शांति व अनुद्वेग देखने में आता है। वस्तु में उद्वेग व अशांति न रहना यही उस वस्तु का मूल स्वभाव समझना चाहिये। क्षोभ व अशांति अथवा उथल-पुथल होना विजातीय संयोग का कार्य है इसीलिये क्षोभ रहित शांत होकर ठहरना वस्तु का मूल स्वभाव समझा जाता है। रागद्वेष रहित शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मा में क्षोभ-अशांति मिटती है और शांति प्राप्त होती है। रागद्वेष की अवस्था जैसे-जैसी मंद होकर तत्वज्ञान की वृद्धि होती है वैसी ही वैसी जीवों को शांति प्राप्त होती हुई जान पड़ती है। इसलिये रागद्वेष का पूर्ण अभाव होकर ज्ञान की पूर्णता होने को निज स्वभाव व पूर्ण-सुख-शांति प्राप्त होने का कारण मान लेना अनुभव के विरुद्ध न होगा।

बस, वस्तु के स्वभाव की प्राप्ति होना ही अविनाशी अवस्था का प्राप्त होना है। वह अवस्था फिर छूटती नहीं है इसलिये जो अपने अविनाशी

पद की आकांक्षा करते हों उन्हें चाहिए कि, ज्ञान की आराधना करें क्योंकि, ज्ञान जीव का मूल स्वभाव है। किसी भी वस्तु की चिरकाल तक भावना या आराधना करने से उसकी प्राप्ति एक दिन अवश्य होती है।

शान्ति का उपाय–

पर-वस्तु को त्यागे बिना सुख और शान्ति नहीं मिलती है। एक अवधूत ने देखा कि एक चील अपनी चोंच में माँस का टुकड़ा लिये उड़ी जाती है और सैंकड़ों कौंवे और चीलें उसका टुकड़ा छीनने के लिये उसके पीछे कांव-कांव करती चली जा रही हैं। चील ने दु:खित होकर मांस का टुकड़ा गिरा दिया और दूसरी चील ने टुकड़ा पकड़ लिया। तब सभी कौवे उस चील के पीछे हो लिए। पहली चील एक पेड़ पर बैठकर शान्त हो गई। इस चील को देखकर अवधूत ने कहा--अरी चील ! तू मेरी गुरु है। तूने मुझको यह उपदेश दिया कि जब तक मनुष्य अपनी तृष्णा की गठरी, जिसे बोझ से वह दबा हुआ इधर-उधर फिरता है, न फेंक दे तब तक उसे सुख और शान्ति नहीं मिलती।

भार झोंक के भार में, रहिमन उतरे पार।
वे बूढे मंझधार में, जिनके सर पर भार॥

स्व स्वभाव ही मुनि का मोक्ष मार्ग है, इसलिये हे योगी–

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति सदा॥

संयम का घात ही अशुद्ध उपयोग है, क्योंकि उससे मुनिपद का नाश होता है, और अशुद्धोपयोग का होना यही हिंसा है, सबसे बड़ी हिंसा ज्ञानदर्शन रूप शुद्धोपयोग के घात से ही होती है। वह अशुद्धोपयोग मुनि के निरन्तर उस समय ही समझना चाहिए, जिस समय मुनि सोना, बैठना, चलना इत्यादि क्रियाओं में यत्नपूर्वक प्रवृत्ति नहीं करते। यत्न के बिना मुनि की क्रिया अट्ठाईस मूल गुण की घातिनी है। यत्न उस ही समय में नहीं होता, जिस समय में उपयोग की चंचलता होती है, यदि उपयोग की चंचलता न हो तो यत्न

अवश्य हो इसलिए उपयोग की जो निश्चलता है, वहाँ शुद्धोपयोग है। यत्न सहित क्रिया से उपयोग भंग नहीं होता, और यत्न रहित क्रिया से भंग होता है, इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि मुनि की जो यत्न-रहित क्रियाओं में प्रवृत्ति है, वह सब निरन्तर शुद्धोपयोग रूप संयम की घातने वाली हिंसा ही है इसलिये मुनि को यत्न से ही रहना योग्य है।

इसलिये योगी को सर्वथा अन्तरंग रागादि का निषेध करने योग्य है कहा भी है कि–

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेषु वधकारो त्ति मदो।
चरदि जदं णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो॥

जिस समय उपयोग रागादि भाव से दूषित होता है, उस समय अवश्यमेव यति क्रिया में शिथिल होकर गुणों में यत्न रहित होता है। जहाँ यत्न रहित क्रिया होती है, वहाँ अवश्यमेव अशुद्धोपयोग का अस्तित्व है। यत्न-रहित क्रिया से षट् काय की विराधना होती है। इससे शुद्धोपयोगी मुनि के हिंसक भाव से बन्ध होता है। जब मुनि का उपयोग रागादि भाव से रंजित न हो, तब अवश्य ही यति क्रिया में सावधान होता हुआ यत्न से रहता है, उस समय शुद्धोपयोग का अस्तित्व होता है, और यत्नपूर्वक क्रिया से जीव की विराधना का इसके अंश भी नहीं है।

अतएव अहिंसक भाव कर्मलेप से रहित है, और यदि यत्न करते हुए भी कदाचित् पर जीव का घात हो जाय, तो भी शुद्धोपयोग रूप अहिंसक भाव के अस्तित्व से कर्मलेप नहीं लगता। जिस प्रकार कमल यद्यपि जल में डूबा रहता है, तथापि अपने अस्पृश्य स्वभाव से निर्लेप ही है, उसी तरह यह मुनि भी होता है। इसलिए जिन जिन-भावों से शुद्धोपयोग रूप अंतरंग संयम का सर्वथा घात हो, उन भावों का निषेध है, और अंतरंग संयम के घात का कारण, पर जीव की बाधा रूप बहिरंग संयम का भी घात, सर्वथा त्याज्य है।

तनगल्लद वस्तुगळोल, मनगिट्टडे बंधमल्लदिर्दडबंधं।

जिनरुपदेशमु मिंतिदे, निनगरिवडे बंधमोक्ष मिंतिनिते वलं ॥16॥

हे जीव ! अपने से पर पदार्थ में मन लगाने से कर्म का बंध हो जाता है। अगर पर पदार्थ से मन हटा लिया जाय, मन को अपने आधीन किया जाय तो बंध नहीं होता। इस प्रकार भगवान जिनेश्वर का उपदेश है। अगर तुम भगवान जिनेश्वर का उपदेश ठीक समझकर उस मार्ग पर चलोगे तो बन्ध और मोक्ष दोनों मार्ग ठीक समझ में आ जायेंगे ॥16॥

विवेचन—ग्रन्थकार ने बन्ध का कारण पर-वस्तु में ममत्व बुद्धि रखना बताया है, जब तक बन्ध का कारण ठीक नहीं समझा जाय, तब तक किसी जीव को बंध से छुटकारा पाने का मार्ग भी नहीं मिल सकता। बंध का कारण भाव ही है। जब भाव पर पदार्थ में परिभ्रमण करता है तो जीव पर वस्तु का बन्ध करता है। जिस समय पर का भाव हटा करके स्वभाव में आ जाता है उस समय बन्ध नहीं करता। अज्ञानी जीव अनादि काल से पर-वस्तु को अपना मानकर संसार में परिभ्रमण करता रहा है क्योंकि भाव ही बन्ध का कारण है और भाव ही मोक्ष का कारण है। जब तक पर-भाव नाश नहीं होगा तब तक यह आत्मा स्वभाव में नहीं आ सकता क्योंकि अज्ञानी जीव पर वस्तु को अपना मानकर उसके साथ जन्म और मरण करते हुए अनेक प्रकार के दु:ख को भोगता है। इसलिए आचार्य कह रहे हैं कि हे अज्ञानी जीव ! अनादि काल से तू पर भाव में परिरमण कर आज तक दु:ख उठाते हुए उसी में सुख और शान्ति प्राप्त करना चाहता है परन्तु जब तक मनपूर्वक पर भाव को अलग नहीं करेगा तब तक शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसलिये आचार्य का यह उपदेश है कि हे योगिन् ! जब तक तू परभाव को दूर कर स्वभाव में परिरमण करने की चेष्टा नहीं करेगा तब तक तुझे सुख और शान्ति नहीं मिल सकती।

बन्ध का कारण विषय भोग—

जब तक बाह्य पदार्थों से रागद्वेष होता है तब तक तुझे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता है क्योंकि जितने भी पंचेन्द्रिय जन्य विषय सुख हैं वह

सार रहित हैं यानी निस्सार हैं। परन्तु अज्ञानी जीव यही विचार करके रहता है कि मुझे इसी में सुख और शान्ति प्राप्त होगी। जैसे धान कूट करके चावल के कण को लेकर भुस का ढेर लगता है। उस ढेर के अन्दर चावल के कण ढूंढने का प्रयास करने वाला मूर्ख अज्ञानी है उस जीव के समान यह बहिरात्मा विषय-सुख-लम्पटी होकर सुख की खोज क्षणिक इन्द्रिय विषयों में अर्थात् पर-पदार्थ में प्राप्त करना चाहता है परन्तु वह सुख पर-पदार्थ में आज तक किसी को प्राप्त नहीं हुआ है। बड़े-बड़े तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि ने इन्द्रिय क्षणिक सुख को हेय मानकर छोड़ा। परभाव को त्याग करके स्वभाव में आये तब उनको स्वभाव में ही निज की प्राप्ति हुई। इसलिये आचार्य करुणा भाव से इस अज्ञानी जीव को उपदेश देते हैं कि हे संसारी जीव ! अगर तुझे सुख और शांति चाहिए तो पर भाव को त्याग कर स्वभाव में रमणकर। इसलिये आचार्य ने परभाव को त्याग करने का आदेश दिया है कि-

संकल्पेदमनिष्टमिष्टमिदामीत्याज्ञातयाथात्म को,
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः ?
अन्तः शान्तिमुपैहि यावददयाप्राप्तान्तकप्रस्फुरज्-
ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान्॥

हे भव्य ! तू वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप नहीं समझता इसीलिए स्त्री पुत्रादि इतर वस्तुओं में मोहित होकर स्त्री पुत्रादि या रत्न सुवर्णादि को हितकारी समझता है, शत्रु, सर्प, विषादि को अहितकर्ता समझता है। पर ऐसा मानकर क्यों काल को यों ही गमाता है ? ऐसी कल्पना तेरी तभी तक होती है जब तक कि तू असली आत्मीय शान्ति को प्राप्त नहीं हुआ। ये तेरी सभी कल्पनाएँ झूठी हैं, क्योंकि अन्य पदार्थों में तुझे सुख-दुःख देने की शक्ति नहीं है। जो कुछ सुख दुःख होते तुझे दिखते हैं वे तेरी ही संकल्प वासना के फल हैं। देख, इधर तू तो यों ही फंसा रहेगा किन्तु काल किसी समय आकर अचानक ही तुझे दबा लेगा, इसलिये उससे बचने का उपाय कर। वह यह है कि जब तक, चाहे जब आ जाने वाले निर्दय काल की भयंकर चमकती हुई जाज्वल्यमान अग्नि के मुख में पड़कर तू भस्म नहीं हुआ अभी तक तू अपने अन्तः करण

को शान्त कर ले, जिससे कि उस काल का आक्रमण आगामी भव के लिये दु:खदायक न हो, क्योंकि अन्तरंग में शान्ति (संतोष) उत्पन्न हो जाने से शुभ कर्म का बंध होगा अथवा परम शान्ति उत्पन्न होने पर मोक्ष-सुख की प्राप्ति भी हो सकेगी, जिससे कि फिर सदा के लिये काल का भय मिट जायेगा।

पर-द्रव्य का त्याग भी भाव से होता है। जब भाव में त्याग भावना होती है तभी द्रव्य का त्याग होता है। अगर भाव का त्याग नहीं है तो वह कर्म-निर्जरा के लिये कारण नहीं होता।

एक अन्य ग्रन्थ का दृष्टान्त है कि एक बार व्यास जी ने शुकदेव जी को जनक के पास उपदेश लेने के लिये भेजा। शुकदेव जी ने राजा के द्वार पर जाकर अपने जाने की सूचना दी। जनक ने सोच कर कि इनको क्रोध आता है या नहीं कहला भेजा कि अभी द्वार पर ठहरो। तीन घण्टे तक शुकदेव जी द्वार पर खड़े रहे परन्तु उनको तनिक भी क्रोध नहीं आया। तब राजा जनक उनको अन्दर ले आया। शुकदेव जी ने देखा कि स्वर्ण सिंहासन बैठने के लिये रक्खा हुआ है। सेवा के लिये दास-दासियों की कमी नहीं है। शुकदेव जी ने सोचा—जो राजा इस प्रकार भोग विलास में मग्न हो वह मुझे क्या उपदेश दे सकेगा। इतने में एक नौकर चिल्लाता हुआ आया और कहने लगा कि महाराज ! नगर में आग लग गई, राजभवन के द्वार तक आग आ पहुँची है। अगर शीघ्र ही रोक थाम न की जायेगी तो समस्त राजभवन जल जायेगा। जनक उसी प्रकार बैठे रहे और उसके बारे में कुछ विचार प्रगट नहीं किया। परन्तु शुकदेव ने कहा कि महाराज द्वार पर मेरा दण्ड कमंडलु रखा है उसे लेता आऊँ नहीं तो वह सब जल जायेगा। कहने का मतलब यह है कि शुकदेव जी के स्वभाव में और भीतर के त्याग में बहुत अन्तर था। कहने का तात्पर्य है कि जनक को घर में होते हुए भी घर जलने की चिन्ता नहीं थी और अपने स्व-पर के ज्ञान से विचार करते हुए मन में विचार किया कि घर तो जलेगा ही क्योंकि यह जड़ है और यह जलेगा। अपनी मर्यादा पूर्ण होने पर अपने आप जल जायेगा। परन्तु मेरी आत्मा कभी न जलने वाली है, न गलने

वाली है, न जमने वाली है, यह सभी मोह की महिमा है। जब तक इस पर मोह रहेगा तब तक सब दुःख बना ही रहेगा।

इसका सारांश यह है कि जब तक अन्तरंग में पर-वस्तु के प्रति भाव लगा हुआ है तब तक इस जीव को सुख और शान्ति मिलना अत्यन्त कठिन है इसलिए भाव से मोक्ष है और भाव से ही संसार है। तब संसार भावसे छूटता है, जब स्व-द्रव्य में आता है। इसलिये हे योगी ! तू भाव से आत्मा को, बन्ध होने वाले पर पदार्थ के प्रति अपने उपयोग को हटाकर अपने स्वभाव के प्रति सन्मुख होने का प्रयत्न कर। यह आत्मा अनादि निधन है, निर्विकार है, शुद्ध है, चिदानन्द रूप है, और पर-द्रव्य को अपना मानकर अनादि काल से इस जड़ वस्तु के निमित्त अनेक प्रकार के दुःख उठा रहा है। इसलिये हे योगी ! विवेकीजन एकाग्र होकर सम्पूर्ण पर-पदार्थ को त्याग करके जब आत्मा में लीन होता है तो अपने अन्दर आत्मा का अनुभव करके उसी मे रत होकर अखण्ड अविनाशी सुख की प्राप्ति करता है। इसीलिये बाह्य पदार्थ को बिल्कुल अपने आत्मा से भिन्न कर ऐसा विचार कर कि ये आत्मा वचन गोचर नहीं है, शरीर से मिश्रित न होकर इस शरीर में रहता है। स्व संवेदन से यह गम्य है। इसकी महिमा विचित्र है। विवेकी जन स्वतः के ज्ञान से जो स्वतः को जानते हैं उसे स्व-संवेदन कहते हैं। इसलिये हे जीव ! यह मोक्ष के समीप पहुँच जाता है जब स्व-ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

इस परमात्मा को तू स्वयं अपने अन्दर ही अनुभव कर सकता है। परन्तु दूसरों को बोल कर बता नहीं सकते हैं। सुनने वालों को सब बातें आश्चर्य कारक हैं। परन्तु ध्यान और अनुभव करने वाले को सत्य मालूम होती हैं। आत्मा मे विकार उत्पन्न करने वाली इन्द्रियों को बाँध कर श्वास के प्रवेश को रोक कर मन को दबा कर चारों तरफ देखने वाली आँखों को बन्द करके यह आत्मा प्रत्यक्ष होता है। हे योगिन् ! वह जिस समय दिखता है उस समय मालूम होता है कि शरीर रूपी घड़े में दूध भरा हुआ है या शरीर रूप घर में शीतल प्रकाश के समान मालूम होता है। इसलिये तेरा आत्मा धारण किये हुए इस तेरे शरीर के अन्दर सम्पूर्ण भरा हुआ है वह अनुभव गम्य है। दूसरे को

बता नहीं सकते हैं। धूप और प्रकाश तो इन्द्रिय गम्य हैं। परन्तु इसकी यह उपमा ठीक नहीं है। आकाश के समान आत्मा अरूपी है परन्तु आकाश में ज्ञान दर्शन उपयोग नहीं है। आत्मा में शुद्ध चैतन्य है और यह पवित्र है, वचन के अगोचर है। वह ऐसा है वैसा है इत्यादि कहा नहीं जा सकता। इसलिये यह भी तू अपने अन्दर पर-वस्तु को छेड़छाड़ न करके आप ही आपने अन्दर रत होकर इस प्रकार विचार करके देख कि मैं इसका वर्णन नहीं कर सकता हूँ। इसलिये सम्पूर्ण बाहर की दृष्टि को हटा कर अपने प्रति दृष्टि लगा करके देखने से यह पता लगता है कि असल में मैं कौन हूँ, किस रूप में हूँ, किस अवस्था में हूँ। मेरा स्वरूप क्या है, मेरी शक्ति क्या है, तब बाद में सब पता चलेगा। हे योगी! लोक में जो अप्रतिम है ऐसे अच्युत रूप को किसी पदार्थ के साथ रखकर कैसे बराबरी कर सकते हैं। इसकी बराबरी की कोई चीज़ नहीं है। सब पदार्थों को अपने आप ही जानना और देखना उचित है। सामने रक्खे हुए पदार्थ के साथ उपमित कर ऐसा है वैसा है कहना यह सब उपचार है। परन्तु आत्मा एक दिन में दीखने वाला नहीं हैं। क्रम-क्रम से ही दिखेगा। आत्मा कभी-कभी अनेक चन्द्र और सूर्य के प्रकाश के समान उज्वल होकर दिखाई देता है। कभी-कभी चंचलता आने पर मन्द दिखाई देता है। फिर स्थिरता आने पर प्रकाशमान दिखई देता है। फिर हृदय मुख गर्भ में प्रकाशित होता है। इसलिये कभी-कभी प्रकाश मन्द-मन्द दिखने लगता है। इसी प्रकार आत्मा भी दृष्टिगोचर होती है। हे योगी ! ध्यान के समय जो प्रकाश दिखता है वह श्रुत ज्ञान है, सुदर्शन है, रत्नत्रय है। जिस समय कर्म झरने लगता है तब आत्म सुख की वृद्धि होती है। आँखों की छोटी सी पुतलियों से क्या यह कभी दिखाई दे सकता है ? अर्थात् नहीं उस समय यह आत्मा सर्वांग से देखने लगता है। चर्म चक्षु से दिखने वाली आत्मा नहीं है। ज्ञान चक्षु के द्वारा प्रतीती होती है। हृदय और मन से जानने से क्या आत्मा दिखाई देगा ? अर्थात् नहीं दिखेगा। नासिका, जिह्वा आदि अल्प इन्द्रियों का सुख कहाँ क्योंकि यह इन्द्रिय सुख केवल बाह्य पंचेन्द्रिय विषय को तृप्त करने वाला है परन्तु इस आत्मा को पंचेन्द्रिय सुख कभी भी तृप्त नहीं कर सकता है। जिस समय अपने अन्दर सर्वांग में आत्मा आनन्दित होने लगती है तब सर्वांग शरीर में सुख

का अनुभव करता है। हे योगिन् ! ऐसा वैभव किसको प्राप्त हो सकता है ? वह वैभव महान योगियों को ही प्राप्त हो सकता है।

जिस समय आत्मा अपने निज स्वरूप मे रत हो जाता है, बाहर की बोल चाल बन्द हो जाती है। शरीर नहीं चलता है। कोई संकल्प विकल्प की भावना नहीं आती है। कषायकी भावना बन्द हो जाती है। मन स्थिर रहता है, तब आत्मा उज्वल प्रकाशमान दिखाई देती है। जब मन अपने स्वरूप को छोड़कर पर में इन्द्रियों की तरफ जाता है तब शरीर थोड़ा सा हिलने लगता है तब शरीर के साथ आत्मा भी चंचल होती है। जिस प्रकार जहाज के अन्दर बैठे हुए मनुष्य भी हिलने लगते हैं, इसी प्रकार शरीर का सम्बन्ध होने के कारण आत्मा हिलने वाली कही जाती है। हे योगिन् ! अभ्यास के समय थोड़ी सी चंचलता जरूर उत्पन्न होती है परन्तु अच्छी तरह अभ्यास होने के बाद महान गम्भीर निश्चल हो जाता है। इस समय ये आत्मा पुरुषाकार अत्यन्त उज्वल दिखाई देता है। परन्तु उस समय कोई क्षोभ नहीं दिखाई देता।

हे योगिन् उस समय उसका वर्णन क्या कर सकते हैं मानो देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाश की यह पुतली है या प्रभा की मूर्ति है या चिदानन्द की मूर्ति है या कांति का पुरुष है या चमक का बिम्ब है, या प्रकाश का चित्र है। इस प्रकार यह आत्मा अन्दर से प्रतीत होता है। विशेष क्या कहूँ क्या जुगनू ने यह रूप धारण किया है अथवा क्या हाथ को न लगने वाले दर्पण ने ही तो पुरुष रूप को धारण नहीं किया ? पहले कभी अन्यत्र इस स्वरूप को नहीं देखा था। ऐसे आश्चर्यकारक शरीर को अनुभव करने लगता है उसमें रमण होता है। चमकने वाली बिजली की मूर्ति यह कहाँ से आई है, ऐसा प्रतीत होता है। इस प्रकार आश्चर्य के साथ यह ज्ञानी उस आत्मा को देखने लगता है। जिस प्रकार स्वच्छ शुद्ध निर्मल दर्पण में बाह्य पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं उसी प्रकार अनेक जगत के सम्बन्धित पदार्थ उस निर्मल आत्मा में झलकते हैं तब उसे अखिल विश्व प्रपंच ही देखने में आता है। यह आत्मा इस अल्पदेह में कैसे आकर समाया। इसमें समस्त त्रिलोक में फैलने की शक्ति होने पर भी यह छोटे से शरीर में कैसे आया है। थोड़े से स्थान में किसने भर

कर रखा है। लोकाकाश में फैल जाने की निर्मलता इसमें है। फिर थोड़े से स्थान में यह कैसे रुक गया है। यह कितने आश्चर्य की बात है।

हे योगिन् ! उस समय कर्म पिण्ड एक दम झरने लगता है और चित्त कला एक दम चमकती हुई दिखाई देती है अर्थात् अनन्त सुख धीरे-धीरे अनुभव होता है जैसे प्रातः कालीन सूर्य की किरण अरुण प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा का अनुभव जैसे-जैसे होने लगता है वैसे आत्मा में प्रकाश आता जाता है। ये सभी बातें अनुभव गम्य हैं। गर्मी की धूप में अधिक तेज होने के कारण जिस प्रकार बर्फ पिघल जाती है, उसी तरह निर्मल आत्मा का प्रखर प्रकाश होने पर कार्माण भी पिघलने लगता है। उस समय देखने वाला भी आप है और प्रशंसा करने वाला भी आप है और देखकर आश्चर्य करने वाला भी आप ही है। इस प्रकार इसको देखते ही आश्चर्य चकित होता है। इससे आगे प्राप्त होने वाला मोक्ष भी वही है। यह आत्मा का स्वरूप है।

हे योगिन् ! यह आत्मा तीन शरीर के अन्दर जब तक बन्द रहता है तब तक आत्मा को संसारी कहते हैं। जब ध्यान करने के बाद तीनों शरीरों का नाश किया जाता है, उसको मोक्ष कहते हैं। यह आत्मा स्वयं अपने आपको देखने लग जाती है तो शरीर का नाश हो जाता है। शरीर की तरफ देखकर शरीर सम्बन्धी इन्द्रिय विषय की तरफ देखता है वह पर माना जाता है। दूसरे हजारों उपायों से उसे नाश करना कठिन है। अपने से भिन्न कर्मों को नाश करके यह आत्मा मुक्ति साम्राज्य को प्राप्त होता है। इस आत्मा को वहाँ ले जाने वाली और रोकने वाली कोई अन्य सामर्थ्य नहीं है।

पर-बुद्धि को त्याग किये बिना सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस पर एक दृष्टान्त है।

कोई एक सच्चा जिज्ञासु एक गुरु के पास गया। उससे प्रार्थना की कि महाराज ! मुझे कोई ऐसी युक्ति बता दीजिये कि जिससे भगवान के साक्षात् दर्शन मिल जायें। गुरु जी ने आज्ञा दी कि उस दालान में वर्ष भर तक निरन्तर भजन और उपासना करके अपने मन को पवित्र कर डालो, तब भगवान का साक्षात्कार होगा। उसने गुरु की आज्ञानुसार पूरे वर्ष भर वहीं

बैठकर रात दिन भजन किया। वर्ष पूरा होने के दिन जब वह भक्त भजन में मग्न था, गुरु महाराज ने घर की महतरानी से कहा कि उसके पास जाकर झाडू दे और खूब गर्द उड़ा। महतरानी ने वैसा ही किया। इस पर वह भोला भक्त डण्डा लेकर उठा और भंगिन से कहने लगा–तूने मेरा आनन्द क्यों बिगाड़ दिया ? थोड़ी देर बाद वह अपने गुरु के पास जाकर कहने लगा–महाराज !

एक वर्ष तो बीत गया, पर भगवान के दर्शन नहीं हुए। तब गुरु बोले–मन का क्रोध विषैले साँप की तरह उछलता और काटता है। क्या दर्शन पाने के यही लक्षण हैं ? जा, एक वर्ष और मन जीत कर अभ्यास कर। भक्त लज्जित हुआ और फिर एक वर्ष तक डट कर अभ्यास किया। जब दूसरा वर्ष पूरा होने को आया तो गुरु महाराज ने फिर उस भंगिन को बुलाकर कह दिया–इस बार उसके भजन के समय खूब शोरगुल मचा और उसके ऊपर कुछ कूड़ा भी डाल दे। इस बार भक्त ने इस विघ्न पर उतना क्रोध तो नहीं किया, परन्तु कसमसा कर भंगिन से कहा–दुष्टे ! यह तेरा कैसा स्वभाव पड़ गया है कि भक्तों का कुछ विचार नहीं रखती और संभल कर झाडू नहीं लगाती ? फिर जब उसने जाकर गुरु जी से प्रार्थना की तो गुरु महाराज ने उत्तर दिया, कि अब तक तेरे मन रूपी साँप का सिर नहीं कुचला गया है काटता तो नहीं, फुंकार मारता है। जा, फिर एक वर्ष तक भजन कर। बेचारा अपनी कमी पर लजाकर फिर भजन में जा लगा। जब तीसरा वर्ष पूरा होने पर आया तो गुरुजी ने भंगिन से कहा–'आज तू बाल्टी में विष्टा घोलकर ले जा और जब वह भजन में मस्त होकर बैठा हो तब उसे खूब नहला दे। जब उसने ऐसा किया तो भक्त जो इस समय भजन में आनन्द मग्न था, सच्ची भक्ति से भंगिन के पैरों में गिर पड़ा और बोला कि तेरे ही द्वारा मेरा सुधार हुआ और आज मेरी कामना पूर्ण हुई।

जब तक भीतरी रागद्वेष की परिणति नहीं छुटती है तब तक बाहरी क्रिया काण्ड कर्म निर्जरा के लिये कारण नहीं होता है। इसलिए अन्तरंग का मल साफ करके जब साधु दोनों तपों में लीन होता है, तब निजात्मा की प्राप्ति

करके इस बाह्य संसार से मुक्त होकर अखण्ड सुख-सागर में हमेशा रत रहता है।

रत्नत्रय मे रत होकर जिसमें तीन शल्यों का त्याग कर दिया है उसके लिये मोक्ष की प्राप्ति कठिन नहीं है–

मत्तं रत्नत्रयदोळ् पत्तिये शल्यत्रपंगळ्मं तौरेदवर।
त्युत्तमनिर्वृति सुखमं पेत्तु जगत्स्तुत्यरप्पुदोदंच्चरिये॥17॥

हे योगी ! तत्पश्चात् सत् श्रद्धा, सत् ज्ञान और सम्यक् चारित्र में लीन होकर मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य, पर भव में सुख की इच्छा रूप निदानशल्य को जिन्होंने त्याग दिया है, वही पुरुष श्रेष्ठ मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकता है और वह ही जगत में पूजनीय माना जाता है। इसलिये योगी! तू जब तक इन शल्यों का मन से त्याग नहीं करेगा तब तक तुझे सिद्धात्मा की प्राप्ति अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

शल्य तीन प्रकार की हैं-माया, मिथ्यात्व और निदान। आत्मा से भिन्न पर-वस्तु को निज वस्तु मानकर आत्मा से रुचि नहीं करना, उसको मिथ्यात्व कहते हैं, क्योंकि संसार में जितने भी रूपी पदार्थ हैं वे आत्मा से भिन्न हैं अपने नहीं हैं। अन्य वस्तु के प्रति ममता की भावना रखना उसको मिथ्यात्व कहते हैं, या असत्य को सत्य समझकर उसकी आराधना करना उसकी शल्य रखना उसको मिथ्यात्वशल्य कहते हैं। माया शल्य उसे कहते हैं जो आत्मा से भिन्न असत्य वस्तु हैं उसकी प्राप्ति के लिये दूसरे जीवों को धोखा देना या अन्याय या चापलूसी से उनके साथ कपट व्यवहार करके कोई चीज प्राप्त करना या कपट भाव से चारित्र का आचरण करना उसको माया शल्य कहते हैं। इस मायाचार से जीव तिर्यञ्च योनि में भ्रमण करते हुए अनेक प्रकार की वेदना को सहता है। कपट बुद्धि रखने वाले अज्ञानी जीव को कभी सुख और शान्ति प्राप्त नहीं होती। कपट के कारण पाप की वृद्धि होती है।

माया शल्य अनेक प्रकार का दु:ख देने वाली है, यह निंद्य गति में पहुँचाने वाली है इसलिये मायाचार की, छल कपट की प्रवृत्ति कभी नहीं रखनी चाहिए। जब यह जीव पंचेन्द्रिय विषयों के आधीन होकर पर वस्तु में आसक्त होता है, तभी यह जीव शरीर, आयु पूर्ण होते समय तक शरीरादि पर-पदार्थों को छोड़ने की इच्छा नहीं करता। जब यह शरीर आत्मा से भिन्न होता है, तब बहुत दिनों के संस्कार के कारण यह जीव मरते समय भी शरीर या धन आदि को छोड़ना नहीं चाहता। इस प्रकार मन में विचार करता है कि इसी प्रकार फिर मुझे ऐसा ही शरीर प्राप्त हो तथा पुन: इस संसार में भोग मिलें। इस प्रकार इस संसार में निदान करके यह जीव फिर पर्याय धारण करता है। इसलिये सबसे पहले शल्यों को दूर करना चाहिए कहा भी है कि-'नि:शल्यो व्रती'-जब तक शल्य दूर न हो, तब तक वह नि:शल्य नहीं कहलाता। और जब तक नि:शल्य न हो तब तक व्रती नहीं होता।

सोमदत्त नामक एक बड़ा विद्वान ब्राह्मण था। वह जिन शासन का अनन्य भक्त था। एक दिन धर्मरुचि नामक मुनिराज आहारार्थ आये। मुनिराज को देखकर सोमदत्त उठा और बड़े आदर से आहार के लिये पड़गाहन किया। किसी आवश्यक कार्य के कारण वह मुनि को आहार कराने का कार्य अपनी स्त्री को सौंप कर चला गया। ब्राह्मणी नागश्री के पाप कर्म का उदय था, अत: मुनिराज को देखते ही उसकी आत्मा क्रोध के मारे भभक उठी और उस दुष्टा ने विष मिलाकर आहार मुनिराज को दे दिया। जिससे कि वे सन्यास पूर्वक मरण कर सर्वार्थ सिद्धि में अहमिन्द्र हो गये। नागश्री का दुष्कृत्य जब सोमदत्त के भाई आदि ने सुना तो उन्हें संसार से वैराग्य हो गया और उन्होंने मुनिराज वरुण के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली। नागश्री मरकर प्रखर पाप के उदय से धूम्रप्रभा नामक पाँचवे नरक में उत्पन्न हुई और वहाँ सत्रह सागर की आयु प्राप्त की। उसके पश्चात वहाँ से निकलकर दृष्टि विषसर्प बनी फिर तीसरे नरक में गई और अनेक योनियों में घूमती हुई चम्पा नगरी में सुबन्धु नामक वैश्य के सुकुमारिका नामक की पुत्री हुई। अपने चाण्डाल

कन्या के पूर्व भव में उसने मुनिराज से मद्य मांस आदि का त्याग किया था इसलिये उसने बहुत सुन्दर रूप पाया। परन्तु पाप के उदय से शरीर अत्यन्त दुर्गन्धित था। उससे कोई भी व्यक्ति विवाह करने को तैयार नहीं होता था। किसी प्रकार जिनदत्त नाम के एक युवक से विवाह भी किया परन्तु दुर्गन्धि के कारण उसने उसे छोड़ दिया। जब सुकुमारिका ने अपनी यह दशा देखी तो उसे बड़ा वैराग्य हो गया और शान्ता नामक आर्यिका से दीक्षा ग्रहण कर ली। एक दिन उसी गाँव की गणिका बसन्तसेना वन विहार के लिये अपने अनुरागी जार पुरुषों के साथ जंगल में आई। उसे देखते ही आर्यिका सुकुमारिका ने बड़ी लालसा से यह निदान किया कि मुझे भी आगे के जन्म में ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो। तप के प्रभाव से आयु के अन्त मे मर कर वह अच्युत स्वर्ग में गई। और वहाँ से वह निदान बन्ध के कारण स्वर्ग से चलकर राजा द्रुपद के द्रौपदी नामक कन्या हुई।

इसी तरह से यह जीव निदान आदि शल्य के द्वारा अनेक योनियों में भ्रमण करके अपनी आत्म-भावना से वंचित रहा। इसलिये हे योगिन् ! इन शल्यों को त्याग करके अपने शुद्ध आत्म-स्वभाव का मनन करो। इस प्रकार करने से तुझे मोक्ष दूर नहीं। मोक्ष का अर्थ सम्पूर्ण मोह ममता आदि समस्त द्रव्य कर्मों से छूट जाना है। इसलिये तू अब पर भव के विषयों की इच्छा का बिल्कुल त्याग करके शल्य-रहित होकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र मय आत्मा के सम्मुख होकर अपने अन्दर रमण कर तब तू पर से मुक्त हो जायेगा।

एन्नेवरं तनु तानें, वन्नेवरं जवन धाळिमाणदुजीवा।
तन्नं तन्नोळगरिदडे, बिणणने मुक्ति पदवियप्पुदमोघं ॥ 18 ॥

हे जीव! 'मैं शरीर ही में हूँ' ऐसी भावना जब तक मेरे मन में है तब तक यमराज का डण्डा तेरे साथ ही चलेगा। कहीं चले जाने पर यमराज तेरा साथ नहीं छोड़ेगा। अगर तू उससे बचना चाहता है तो तू अपने को अपने अन्दर ही समझ कर सार्थक ऐसे मोक्ष पद को प्राप्त कर सकता है। शरीर का मोह जब तक नहीं छूटेगा तब तक शरीर शत्रु के समान इस आत्मा को हमेशा

दु:ख देकर अनेक प्रकार की निंद्य गति में घसीटता रहेगा इसलिये अब तू सावधान होकर जिस शरीर को अनादि काल से अपना मान कर उसकी रक्षा के लिये अनेक प्रकार के जाल तूने रचाये, अनेक प्रकार के अन्याय दूसरे जीवों के साथ करके तूने इन्द्रिय विषय भोग की सामग्री को जुटाया उस शरीर के द्वारा होने वाले दु:ख का वर्णन कहाँ तक करें। तुझे एक मिनट भी इस शरीर से सुख और शांति चारों गतियों में प्राप्त नहीं हुई। यह शरीर तेरा जेलखाना है। कहा भी है कि–

> **अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्यायुभि-**
> **श्चर्माच्छादितमस्त्रसांद्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः।**
> **कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालये,**
> **कारागारमवेहि ते हतमते प्रीति वृथा मा कृथाः॥**

अरे मूर्ख ! तू इस शरीर में वृथा क्यों आसक्त हो रहा हे ? इस शरीर को तू केवल जेलखाना समझ। जेलखाना बड़े-बड़े, पत्थर शहतीर वगैरह लगकर बनता है, यह शरीर हड्डियों से बना हुआ है। शरीर शिरा स्नायुओं से जकड़ा हुआ है। कैदी लोग कहीं से निकल न जाये इसके लिये जेलखाना सब तरफ से ढका हुआ होता है, यह शरीर भी चमड़े से ढका हुआ है। जेलखाने मे जहाँ-तहाँ कैदियों के आघात से रुधिर माँस दृष्टिगोचर होता है। परन्तु शरीर के भीतर सभी जगह वह भरा हुआ है। कैदी कहीं भाग न जायें इसके लिये जेलखाने के आसपास, जेल के स्वामी की तरफ से दुष्ट क्रूर मनुष्य पहरा दिया करते हैं, इसी प्रकार इस शरीर में भी दुष्ट कर्म शत्रुओं का पहरा लगा रहता है। जेलखाने में दरवाजों के बीच में अर्गल की लकड़ी पड़ी रहती है जिससे कैदी बाहर न निकल जाँय। यहाँ पर जीव रूप कैदी शरीर में से बाहर नहीं निकल सकता है। जबकि ऐसा है तो शरीर और जेलखाने में क्या अन्तर है ? कुछ भी नहीं। अरे, जेलखाने से तो तू इतना डरता है कि, दिन दो दिन वहाँ रहना भी तुझे कष्ट जान पड़ता है, और तू निरन्तर विचार करता होगा कि इस कष्ट से कब छूटुंगा, अथवा इसमें कभी फिर न जाना पड़े। परन्तु इस शरीर-जेल का तो यह हाल है कि एक से छुटकारा हो तो दूसरे में चला जाना

पड़ता है, दूसरे से निकला तो तीसरे में घुसना पड़ता है। अनादि काल से लेकर आज तक तेरा इससे कभी क्षण भर के लिये भी छुटकारा नहीं हुआ। तो भी तू इसके बन्धन से इतना डरता नहीं है, यह आश्चर्य की बात है। अथवा इससे जान पड़ता है कि तू पूरा अज्ञानी है, तुझे कुछ भी हिताहित की समझ नहीं है। शरीर के समान ही घर कुटुम्बादि भी दु:खदायक हैं–

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं।
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्॥
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत्।
त्यजत भजत धर्मं निर्मलं शर्मकामाः॥

शरण नाम घर का है, परन्तु वह तेरा असली शरण नहीं हो सकता, क्योंकि घर के भीतर से भी जीव को मृत्यु छोड़ती नहीं है। बन्धुजन भी सर्व पाप कर्म का बंधन होने के लिये कारण है, क्योंकि, बन्धुजनों के प्रेमवश होकर जीव अनेक कुकर्म करता है। जिसका चिरकाल से परिचय हो रहा है, ऐसी अपनी स्त्री को तू सुख का साधन समझता होगा परन्तु वह सब तरह की विपत्ति आकुलता व्याकुलता देने वाली है। पुत्र भी जन्म से ही माता का यौवन नष्ट कर देते हैं, बाल्यावस्थ में माता-पिता को अनेक कष्ट देंते हैं। उनके लालन पालन के लिये अनेक कुकर्म करके भी धन कमाया जाता है जिसे कि वे यों ही खो देते हैं। दुष्ट होने पर आगे वे माता-पिता की कीर्ति को मलिन करते हैं। बहुत से कुपुत्र जीते जी भी माता-पिता को अनेक कष्ट देते हैं। इसलिये ये साक्षात् शत्रु हैं। इनसे बड़ा शत्रु और कौन होगा ? इस प्रकार विचार करने पर ये सभी चीजें दु:ख की ही कारण जान पड़ती है। इसलिये जिन्हें सुखी बनना हो उन्हें चाहिए कि वे इन सभी का सम्बन्ध तोड़ कर एक निर्मल धर्म से प्रीति करें।

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशांग्निसंधुक्षणैः।
संबन्धेन किमंग शश्वदशुभैः संबन्धिभिर्बन्धुभिः॥
किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा।

देहिन् याहि सुखाय ते सममुं मा गाः प्रमाद् मुधा॥

अरे मित्र, जैसे सूखा ईंधन पड़ने से अग्नि बहुत ही जाज्वल्यमान होती है, उसी प्रकार आशा रूप अग्नि को प्रज्वलित करने में धन, ईंधन का काम देता है। जब कि धन से दुःख का कारण असंतोष बढ़ता है तो वह किस काम का है ? उससे सुख कैसे मिल सकता है ? जो निरन्तर अशुभ कृत्य में भिड़ाने वाले तथा अशुभ कर्म का बंध जिनके योग से होता हो ऐसे सम्बन्धी तथा बन्धु जनों का सम्बन्ध भी किस काम का है ? मोह रूप सर्प के बड़े भारी बिल के समान इस देह से तथा घर से भी क्या प्रयोजन है कि जिसमें प्रवेश करने से मोह रूप सर्प अवश्य डंसले, और फिर उसके विष का फल नरक निगोदादि खोटी गतियों में पड़कर अनन्तकाल तक भोगना पड़े। अरे जीव ! तू निश्चय समझ, ये सर्व दुःख के ही कारण हैं। इसीलिए तू इनमें वृथा फंस मत-इनमें रागद्वेष मत कर। किन्तु इन पर-वस्तुओं से रागद्वेष दूर करके समता धारण कर, तभी तुझे सुख प्राप्त होगा सारांश यह है कि जीव के सुख का कारण सब अवस्थाओं में संतोष, समता ही है, और जहाँ-जहाँ राग द्वेष का प्रादुर्भाव है वहीं वहीं दुःख है।

इस शरीर का सार एक ही है कि जो महानुभाव इन्द्रिय असंयम और प्राणि असंयम दोनों प्रकार के असंयमों से रहित गुरु के चरण कमलों के सेवन से प्राप्त दैदीप्यमान तेरह प्रकार के चारित्र का भक्तिपूर्वक आचरण करता है वह पुरुष निंदित कर्मों का सर्वथा नाश करके अद्भुत आनन्द प्रदान करनेवाली पर-ब्रह्मराधना (निश्चय चारित्र) को प्राप्त करता है।

अध्यात्म भेद भरियद, उद्धत नागिर्दु पिरिदुमज्ञानतेयं।
पोदि बेसादिर्य नण्पोड, कर्दमदोळागर्दि लोहदंतिरे किडिगु॥19॥

अर्थ—जो मूढ़ प्राणी जब तक अध्यात्म और पर-पदार्थ के भेद को नहीं समझता है और बिना समझे अहंकार के वशीभूत होकर एकान्त मत को ग्रहण करता है, वह अज्ञानी होकर अज्ञान से अपना हठ् पकड़ करके एकान्त मत में लगा रहता है, ऐसे एकान्तमत में जो आसक्त हो गया है वह मनुष्य कभी

अपनी आत्म उन्नति नहीं कर सकता है जैसे लोहा कीचड़ में पड़ा रह कर जंग पकड़ लेता है, उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान के कारण तथा भेद-विज्ञान के अभाव में अज्ञान रूपी मलिनता से संसार रूपी कीचड़ में पड़ कर अपने आप को अनेक गतियों में भ्रमण कराने का कारण बन जाता है। जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ लोहे का नाश होता रहता है उसी प्रकार अज्ञानी जीव के गुणों का नाश होता रहता है।

विवेचन—इस श्लोक में ग्रंथकार ने यह बतलाया है कि जब तक किसी जीव को आत्मज्ञान नहीं होता तब तक यह जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है क्योंकि, जब तक इसको स्व और पर का ठीक ज्ञान न हो, तब तक यह अज्ञानी प्राणी यथार्थ स्वरूप को समझ नहीं सकता, उसकी जितनी भी तपश्चर्या, जितना भी उपवास आदि बाह्य क्रिया हैं वे कर्म निरोध के लिये कारण नहीं बनती है। निर्जरा का कारण आत्म ध्यान ही है। आत्म-ध्यान भी तब ही हो सकता है जब आत्मा के प्रति रुचि हो और संसार के प्रति अरुचि हो। जब तक संसारी विषय-वासना में रुचि बनी रहेगी तब तक आत्मानुभव की रुचि उस जीव को नहीं हो सकती है। इसलिये आचार्य ने कहा है कि जब तक व्यवहार और निश्चय को ठीक नहीं समझे तब तक आत्मज्ञान होना दुष्कर है—

हे आत्मन् ! अगर तू चिदानन्द आत्म-बोध प्राप्त करना चाहता है तो तू समस्त वाद विवादों को अथवा अनेकविकल्प-बाह्य विकल्प को त्याग दे। और अपने आत्म-स्वरूप का भली प्रकार ज्ञाता दृष्टा बन। तुझे व्यर्थ वितण्डावाद तथा अनेक प्रकार की बाह्य कथा से क्या प्रयोजन है। मुँह मटका कर, अंगुली घुमा कर, विचार चर्चा करने से नहीं मिलता क्योंकि यह बाह्य तर्क है। ऐसा करने से तू अज्ञानी पशु के समान आत्मज्ञान से शून्य समझा जायेगा। तू तो अंतरंग तर्क का आश्रय ले। अपनी दृष्टि अंतरंग की ओर रख। जिससे तुझे आत्मबोध का लाभ हो तथा अपने स्वरूप को भली भांति समझ जावे। आत्म-प्रबोध आत्मा की ओर दृष्टि रखने से ही होता है। यही इसका

सार है। जब तक इस आत्मा पर अहंकार रूपी पिशाच का प्रकोप रहेगा तब तक यह आत्मा आनन्दमय स्वरूप का अनुभव नहीं कर सकता है। अतएव तू परम पवित्र बीजाक्षर महामंत्र की आराधना कर जिससे अहंकाररूपी पिशाच नष्ट हो जावे। तू अपनी महिमा से दूसरों को रंजायमान करने का अथवा भूत पिशाच जीवजन्त आदि की बाधाओं को दूर करने के लिये हुँ फटकार वषट् आदि मंत्रों के प्रयोग का अभ्यास न कर। स्मरण रख कि ऐसे अभ्यास से तेरी जागृत आत्मा की ज्योति मंद पड़ जायेगी जिससे आत्म-कल्याण न हो सकेगा। आत्मा का कल्याण तो आत्म-स्वरूप में ही लीन होना है। वह आत्मा अचिन्त्य अविनाशी सम्यक्ज्ञान आदि गुणों का पूर्ण भंडार है।

जब तुझे आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जायेगा तब तू इन बाह्य पदार्थों का वर्णन कभी नही करेगा तथा तेरा नूतन रसीले काव्यों के रचने का जो भावोद्रेक है वह भी एक ओर किनारा कर जायेगा, तू एक मात्र सत्य-स्वरूप में ठहर जावेगा। जो जीव रंग बिरंगे बाह्य आडम्बर-पूर्ण पदार्थों के रंग में रंग रहे हैं तथा निज आत्मा के ज्ञान से सर्वथा विमुख हैं उनकी गणना की जाय तो अधिक से अधिक मिलेगी। परन्तु यथार्थ बुद्धिमान तत्वों की खोज करने वाले मनुष्य बहुत कम मिलेंगे। इसीलिये जो मनुष्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने का अभिलाषी है उसे अहित से बचकर प्रेम-पूर्वक हित में प्रवृत्त होना चाहिये। बाह्य चटक मटक मे उलझ कर आत्म-घात नहीं करना चाहिये क्योंकि हित से कल्याण एवं अहित से अकल्याण होता है। अकल्याण ही आत्मा का घात है।

इस असार संसार में इन्द्रिय-जनित पराधीन विषयों से अंत में उत्तर काल में दु:ख ही मिलता है। उनमें रागद्वेषादि का त्याग और उपाधिरहित सारभूत समीचीन शाश्वत अनुपम सुख को उत्पन्न करने वाली विद्या का अवलम्बन करो। अविद्या का सम्बन्ध दूर से ही त्याग दो। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से विभूषित विद्या अध्यात्म के नाम से प्रसिद्ध है। अध्यात्म-विद्या ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को बतलाने वाली है। उत्कृष्ट विद्या तो

सम्यक्ज्ञान है इसे प्राप्त करो। अविद्या का दूर से त्याग कर दो। मिथ्यात्व से उत्पन्न हुई भ्रान्ति, तथा विपरीत ज्ञान इसकी जड़ है, अज्ञानरूपी हरी भरी क्यारी तथा मोहरूपी वट-वृक्ष के आश्रय है जिस पर नाना प्रकार के संकल्प विकल्प रूपी मोड़े देकर चढ़ा जाता है। रागद्वेषादि उस वृक्ष के नवीन पल्लव हैं। इन्द्रियों के विषय उसके गुण और पाप रूपी फल जिसमें लद रहे हैं। ऐसा अविद्या रूपी वृक्ष समस्त संसार में फैला हुआ है। प्राय: ऐसे वृक्ष संसार में व्याप्त हैं।

योगियों को चाहिये कि वे अविद्या रूपी प्रबल शत्रु से बचें तथा कल्याणकारी परम पवित्र अध्यात्म-विद्या रूपी सूर्य हृदय से स्वीकार करें। अविद्या ही चेतन तथा अचेतन तथा सूक्ष्म पदार्थ में शंका करा देती हैं, स्पष्ट नहीं जानने देती। इतना ही नहीं बल्कि निर्मल आत्मज्ञान रूपी चन्द्रमा के उदय को अविद्यमान समान कर देती है। यह अविद्या घोर अंधकारमयी अंधेरी रात के समान है। जिस प्रकार अंधेरी रात में समीप रखा हुआ भी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता अर्थात् स्पष्ट रूप में न दिखने के कारण सीप में चाँदी, रस्सी में सर्प, सर्प में रस्सी का ज्ञान होता है, इसी प्रकार अविद्या के प्रभाव से आत्म स्वरूप ज्ञात नहीं होने पाता। कदाचित् ज्ञात भी होता है तो उसका विपरीतार्थ यह क्या है ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु परम शुद्ध निष्कलंक आत्मा का ज्ञान नहीं होता है।

स्वप्न में देखे हुए अनेक पदार्थ, इन्द्रजाल, सिनेमा में चलाते फिरते चित्र, गंधर्व नगर देखने से कौतूहल मानते हैं परन्तु वास्तव में वह सभी व्यर्थ और निस्सार होते हैं। जो ये ही लौकिक चमत्कार दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वह सभी अविद्या तथा मिथ्यात्व का महत्व है।

श्री जिनेन्द्र देव ने ज्ञानी लोगों के लिये अध्यात्म-विद्या प्राप्ति के लिये दो उपाय बतलाये हैं, पहला स्वाध्याय और दूसरा अपने को अपने में चिन्तन करना रूप ध्यान। आत्मासम्बन्धी ज्ञान के अभ्यास का नाम स्वाध्याय है। समस्त इन्द्रियों के व्यापार से रहित, मोहनाशक शीघ्र ही उत्तम फल प्राप्त

कराने वाला आत्म-स्वरूप का चिंतन करना ही ध्यान है। जो ज्ञान समस्त ज्ञानों की अपेक्षा सबसे अधिक निजाधीन अधिष्ठित आत्म-स्वरूप के अधिगम से उत्पन्न, निश्चल निर्दोष और मोक्ष का कारण है, वही अध्यात्म-विद्या है उससे भिन्न सभी अविद्या हैं। यह अविद्या मिथ्या है।

रतिवृत्ति तथा क्रीड़ा रस की चाह करने वाले राग को यही अविद्या उत्पन्न करती है। जिस प्रकार व्यभिचारी स्त्री के सम्पर्क से सुचारित्र और विद्या किनारा कर जाती है, यानी अविद्या के सम्बन्ध से विवेक और चारित्र दोनों नष्ट हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री कामोन्माद से निष्कलं लोगों को भी कलंकित करके उनको नरक कुण्ड में डाल देती है उसी प्रकार अविद्या भी जीवों को अधोगति के असह्य दुःखों को भुगताती है। इस अविद्या रूप रानी का मोह रूपी राजा पति है तथा अहंकार और ममकार यह दो पुत्र हैं। क्रमशः ममता और वांछा तथा रति, अरति अहंकार की स्त्रियाँ हैं। सुख-दुःख उनके पुत्र हैं। इस प्रकार अविद्या का विशाल परिवार है। जैसा-जैसा अहंकार और ममकार का अंश बढ़ता जाता है वैसा-वैसा अविद्या महारानी का प्रताप बढ़ जाता है। इसलिये भव्यजीवो ! ऐसी अविद्या को हटा कर अध्यात्म-विद्या का यथाशक्ति अवलम्बन करो और आत्मा के लक्षणों को ठीक जानकर निज-स्वरूप को पहिचानो उससे अनुपम अखंड मोक्ष की प्राप्ति होगी।

शास्त्र पढ़ना, धर्म तथा मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले अध्यात्म आगमों का ठीक रूप से अभ्यास करने को स्वाध्याय कहते हैं और वह अन्तरंग तप में गिना गया है। इससे स्वर्ग तथा मोक्ष की सिद्धि होती है। लौकिक शास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र इत्यादि शास्त्रों का अभ्यास करना अस्वाध्याय है अर्थात् इससे अनेक प्रकार की इन्द्रिय-वासना की तुष्टि होती है। ये इस लोक और परलोक को बिगाड़ने वाले हैं और अन्त में पाप रूपी कीचड़ में डालने वाले हैं इनके अध्ययन का परिणाम निन्दनीय होता है। इसलिये ज्ञानी साधु स्वाध्याय का ही आचरण करते हैं।

जो मनुष्य श्री जिनेन्द्र देव के वचनों पर पूर्ण श्रद्धान् रखकर मन को आत्म ज्ञानकी ओर लगाते हुए शरीर को क्षणिक समझ कर इन्द्रियों को नियतकर जैन सिद्धान्त में जैसा स्वरूप कहा हुआ है उसी प्रकार सिद्धान्त शास्त्र का स्वाध्याय करते हैं वे शीघ्र ही समस्त कर्मों का विध्वंस कर देते हैं। यह भी एक उत्तम प्रकार की समाधि है। जब तक मन, वचन, काय और इन्द्रियाँ वश में न होंगी तब तक कभी स्वाध्याय नहीं हो सकता। बिना स्वाध्याय के कर्मों का क्षय और अनुपम मोक्ष का प्राप्त होना असम्भव है। अतएव प्रथम तो मन को ज्ञान की ओर झुकावे। फिर शरीर को विनयशील बनाकर वचन को स्वाध्गय में लीन करे तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों को ही वश में करने का प्रयत्न करे यह उत्तम कार्य है।

जो योगी अनेक प्रकार के प्रयत्नों से अध्यात्म आगमों का अभ्यास करते हैं तथा मनगुप्ति, वचनगुप्ति तथा कायगुप्ति का ठीक प्रकार से अभ्यास करते हैं तथा माया, निदान और मिथ्या नाम के तीन शल्यों को त्याग देते हैं। वे पाँच समितियों का पालन भी भली प्रकार करते हैं। गुप्ति, समितियाँ, मोक्षमार्ग की प्राप्ति में प्रधान कारण हैं अतएव सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित शास्त्र का अभ्यास मनन आदि करो। सभा के योग्य हित मित वचनों से उनका व्याख्यान करो। ऐसा करने से थोड़े ही समय में केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जायेगी। केवलज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद तीनों लोक के समस्त प्राणियों को समझाने योग्य निरक्षर दिव्य ध्वनि खिरने लगेगी जिससे विश्व कल्याणकारी महाधर्मोपदेश के प्रभाव से समस्त प्राणियों को स्व-पर का अमित ज्ञान लाभ होगा। यही स्वाध्याय का महत्व है। इसलिये हे योगी ! भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए चारों अनुयोगों को रुचिपूर्ण एकाग्रता से मनन करो।

जो योगी काम सुभटों का तिरस्कार करके मुनि-मुद्रा धारण करते हैं निश्चल मन से बार-बार स्वाध्याय करते हैं, उन्हें समझते हैं व्रत, नियम, शील, संयम, तप आदि को धारण करते हैं, मुक्तावली, कनकावली, रत्नत्रयादिक व्रत करते हैं, उनको इस स्वाध्याय रूपी रत्न से आत्मा को शान्ति रस-रूपी

अनुपम सुख की प्राप्ति होती है। स्वाध्याय के बिना चाहे नग्न मुद्रा धारण कर ले या जीवन पर्यन्त काय-क्लेश करे तो भी निष्फल हो जाता है इसलिये हे योगिराज ! यदि तू प्रतिदिन लगातार स्वाध्याय के करने से थक गया हो तब तुझे ध्यान करना चाहिए। ध्यान से आत्मा में शान्तिमय प्रधान सुख की प्राप्ति होती है और निजानन्द रस का पान होता है। इसलिये जो स्व-पर-ज्ञान करके अपना कल्याण करना चाहता है तो उसको हमेशा सच्चे ज्ञान की प्राप्ति करने के लिये स्वाध्याय से अपने अज्ञान को दूर करना चाहिए।

परिणामवशदि जीवं, परिपमिलिपनिंतु पलवु दो पर्याय दोहों।
परिणमिसि जीव नक्कट, तिरिगुं संसार घोरतर जलनिधि योळ॥20॥

अर्थ—हे जीव ! परिणाम के, भावना के निमित्त से जीव अनादिकाल से संसार में परिणमन करता हुए आ रहा है। जब तक इस जीव की पर-परिणति रहेगी तब तक यह जीव अपने स्वभाव का आश्रय नहीं ले सकता है। इसलिये यह जीव अज्ञानी बनकर महान भयंकर संसार समुद्र में भटक रहा है यह कितने आश्चर्य की बात है।

विवेचन—आचार्य ने यह बतलाया है कि यह जीव पर-परिणति के निमित्त से इस संसार में अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए इस संसार समुद्र में भ्रमण कर रहा है इसलिये उसको अभी तक सुख और शान्ति का स्थान प्राप्त नहीं हुआ। अत: इस जीव को बाह्य पदार्थों से रागद्वेष हटाने के लिये आचार्य ने उपदेश दिया है कि—

संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञात याथात्म्यके,
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः ?
अन्तः शान्तिमुपैहि यावददयप्राप्तान्तकप्रस्फुरज्!
ज्वालाभीषणजाठरानलमुखे भस्मीमवेन्नो भवान्॥

अर्थ—अरे भव्य, तू वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप नहीं समझता इसीलिये स्त्री पुत्रादि इतर वस्तुओं में मोहित होकर स्त्री पुत्रादि या रत्न सुवर्णादि को

हितकारी समझता है, शत्रु सर्प विषादि को अहितकर्ता समझता है। पर ऐसा मानकर क्यों काल को यों ही गमाता है? ऐसी कल्पना तेरी तभी तक होती है जब तक कि तू असली आत्मीय शान्ति को प्राप्त नहीं हुआ। ये तेरी सभी कल्पनायें झूठी हैं क्योंकि अन्य पदार्थों में तुझे सुख-दु:ख देने की शक्ति नहीं है ? जो कुछ सुख-दु:ख होते हुए तुझे दिखते हैं वे तेरी ही संकल्प वासना के फल है। देख, इधर तो तू यों ही फंसा रहेगा किंतु काल किसी समय आकर अचानक ही तुझे दबा लेगा इसलिये उससे बचने का उपाय देख। वह यह है कि जब तक चाहे जब आजाने वाले निर्दय काल की भयंकर चमकती हुई जाज्वल्यमान जठराग्नि के मुख में पड़कर तू भस्म नहीं हुआ तभी तक तू अपने अंतकरण को पूर्ण शांत कर ले, जिससे कि उस काल का आक्रमण आगामी भव के लिये दु:ख दायक न हो, क्योंकि अंतरंग में शांति संतोष उत्पन्न हो जाने से शुभ कर्म का बंध होगा अथवा परम शांति उत्पन्न होने पर मोक्ष-सुख की प्राप्ति भी हो सकेगी, जिससे कि फिर सदा के लिये काल का भय मिट जायेगा।

इस आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध कब से है ?

यथानादि: स जीवात्मा तथानादिश्च पुद्गल:।
द्वयोर्बन्धोप्यनादि: स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणो:॥

अर्थ—यह जीवात्मा भी अनादि है और पुद्गल भी अनादि है इसलिए दोनों का सम्बन्ध रूपबन्ध भी अनादि है।

भावार्थ—जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है। यदि इनका सम्बन्ध सादि अर्थात् किसी काल विशेष से हुआ माना जावे तो अनेक दोष आते हैं। इसी बात को ग्रंथकार स्वयं आगे दिखलाते हैं—

द्वयोरनादिसम्बन्ध: कनकोपलसन्निभ:।
अन्यथा दोष एवं स्यादितरेतरसंश्रय:॥

अर्थ—जीव और कर्म दोनों का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। यह सम्बन्ध उसी प्रकार है जिस प्रकार कि कनक और पाषाण का

सम्बन्ध अनादिकालीन होता है। यदि जीव पुद्गल का सम्बन्ध अनादि से न माना जाय तो अन्योन्याश्रय का दोष आता है।

भावार्थ—एक पत्थर ऐसा होता है जिसमें सोना मिला रहता है, उसी को कनक पाषाण कहते हैं। कनक पाषाण खान से मिला हुआ ही निकलता है। जिस प्रकार सोने का और पत्थर का हमेशा से सम्बन्ध है उसी प्रकार जीव और कर्म का भी हमेशा से सम्बन्ध है। यदि जीव कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से न माना जावे तो अन्यन्याश्रय दोष आता है।

तद्यथा यदि निष्कर्मा: जीव: प्रागेव तादृश:।
बन्धाभावेऽथ शुद्धेऽपि बन्धश्चेन्निर्वृत्ति: कथम्॥

अर्थ—यदि जीव पहले कर्म रहित अर्थात् शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सकता और यदि शुद्ध होने पर भी उसके बन्ध मान लिया जाये तो फिर मोक्ष किस प्रकार हो सकता है ?

भावार्थ—आत्मा का कर्म के साथ जो बन्ध होता है वह अशुद्ध अवस्था में होता है। यदि कर्म बन्ध से पहले आत्मा को शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सकता ? क्योंकि बन्ध अशुद्ध परिणामों से ही होता है और अशुद्धता में बन्ध की आवश्यकता पड़ती है। बिना पूर्वबन्ध के शुद्ध आत्मा में अशुद्धता आ नहीं सकती। यदि बिना बन्ध के शुद्ध आत्मा में भी अशुद्धता आने लगे तो जो आत्मायें मुक्त हो चुकी हैं वे फिर अशुद्ध हो जायेगी और अशुद्ध होने पर बन्ध भी करती रहेंगी। फिर तो संसारी और मुक्त जीव में कोई अन्तर नहीं रहेगा इसलिये बन्ध रूप कार्य के लिये, अशुद्धता रूप कारण की आवश्यकता है और अशुद्धता रूप कार्य के लिये पूर्वबन्ध रूप कारण की आवश्यकता है। बिना पूर्व कर्म के बंधे हुए अशुद्धता किसी प्रकार नहीं आ सकती। इसलिए अशुद्धता में बन्ध और बन्ध में अशुद्धता की अपेक्षा पड़ने से एक भी सिद्ध नहीं होता, बस यही अन्योन्याश्रय दोष है। यदि जीव कर्म का सम्बन्ध अनादि माना जाये तो यह दोष सर्वथा नहीं आता।

दूसरी बात यह है कि सादि सम्बन्ध मानने से पहले तो शुद्ध आत्मा में बन्ध हो नहीं सकता क्योंकि बिना.कारण के कार्य होता ही नहीं। थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि बिना रागद्वेष रूप कारण के शुद्ध आत्मा भी बन्ध करता है तो फिर बिना कारण के होने वाला वह बन्ध किस तरह छूट सकता है? यदि रागद्वेष रूप कारणों से बन्ध माना जाय तब तो उन कारणों के हटने पर बन्ध रूप कार्य भी हट जाता है। परन्तु बिना कारण के होने वाला बन्ध दूर हो सकता है या नहीं ऐसी अवस्था में इसका कोई नियम नहीं है। इसलिए मोक्ष होने का भी कोई निश्चय नहीं है। इस तरह सादि बन्ध मानने में और भी अनेक दोष आते हैं।

अथ चेत्पुद्गलः शुद्धः सर्वतः प्रागनादितः।
हेतोर्विना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि पुद्गल अनादि से सदा शुद्ध ही रहता है ऐसा कहने वाले मत से आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध भी नहीं बनेगा। फिर तो बिना कारण जिस प्रकार आत्मा का ज्ञान स्वाभाविक गुण है, उसी प्रकार क्रोधादिक भी आत्मा के स्वाभाविक गुण ही ठहरेंगे।

भावार्थ—पुदगल की कर्म रूप अशुद्ध पर्याय के निमित्त से ही आत्मा में क्रोधादिक होते हैं ऐसा मानने से तो क्रोधादिक आत्मा के स्वभाव नहीं ठहरते हैं। परन्तु पुद्गल को शुद्ध मानने से आत्मा में विकार करने वाला फिर कोई पदार्थ नहीं ठहरता। ऐसी अवस्था में क्रोधादिक का हेतु आत्मा ही पड़ेगा और क्रोध मान माया लोभ आदि आत्मा के स्वभाव समझे जायेंगे यह बात प्रमाण विरुद्ध है।

एवं बन्धस्य नित्यत्वं हेतोः सद्भावतोऽथवा।
द्रव्याभावो गुणभावे क्रोधादीनामदर्शनात्॥

अर्थ—यदि पुद्गल को अनादि से शुद्ध माना जाय और शुद्ध अवस्था में भी उसका आत्मा से बन्ध माना जाय तो यह बन्ध सदा रहेगा, क्योंकि शुद्ध

पुद्गल रूप हेतु के सद्भाव को कौन हटाने वाला है? पुद्गल की शुद्धता स्वाभाविक है वह सदा भी रह सकती है और हेतु की सत्ता में कार्य भी रहेगा ही।

यदि बन्ध ही न माना जाय तो ज्ञान की तरह क्रोधादिक भी आत्मा के ही गुण ठहरेंगे वही दोष जो कि पहले श्लोक में कह चुके हैं फिर भी आता है और क्रोधादिक को आत्मा का गुण स्वीकार करने में दूसरा दोष यह आता है कि जिन-2 आत्माओं में क्रोधादिक का अभाव हो चुका है उन-2 आत्माओं का भी अभाव हो जाएगा क्योंकि जब क्रोधादिक को गुण मान चुके हैं तो गुण के अभाव में गुणी का अभाव होना स्वत: सिद्ध है, और यह बात देखने में भी आती है कि किन्हीं-2 शांत आत्माओं में क्रोधादिक बहुत थोड़ा पाया जाता है। योगियों में अति मन्द पाया जाता है, और बारहवें गुणस्थान में तो उसका सर्वथा अभाव है। इसलिये अशुद्ध पुद्गल का अशुद्ध आत्मा में बन्ध मानता ही न्याय संगत है।

ततस्सिद्धः सिद्धसम्बन्धो जीव कर्मोभयोर्मिथः।
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत्॥

अर्थ—इसलिये जीव और कर्म का सम्बन्ध प्रसिद्ध है और वह अनादिकाल से बन्ध रूप है यह बात सिद्ध हो चुकी। जो पहले शंकाकार ने जीव कर्म का सम्बन्ध सादि (किसी समय विशेष से) सिद्ध किया था वह नहीं सिद्ध हो सका। सादि सम्बन्ध मानने से अन्योन्याश्रय आदि अनेक दोष आते हैं तथा दृष्टान्त भी कोई ठीक नहीं मिलता।

भावार्थ—कनक पाषाण आदि दृष्टान्तों से जीव कर्म का अनादि सम्बन्ध ही सिद्ध होता है। यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि दो पदार्थों का सम्बन्ध हमेशा से कैसा? वह तो किसी खास समय में जब दो पदार्थ मिलें तभी हो सकता है? इस शंका का उत्तर यह है कि सम्बन्ध दो प्रकार का होता है, किन्हीं पदार्थों का तो सादि सम्बन्ध होता है। जैसा कि मकान बनाते समय ईंटों का सम्बन्ध सादि है और किन्हीं पदार्थों का अनादि सम्बन्ध होता है, जैसे कि कनक पाषाण, अथवा जमीन में मिली हुई अनेक चीजों का, अथवा बीज

और वृक्ष का, अथवा जगद्व्यापी महास्कन्ध का अथवा सुमेरु पर्वत का। इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि है

जीवस्याशुद्धरागादिभावना कर्म कारणम्।
कर्मणस्तस्य रागादिविभावाः प्रत्युपकारिणः॥

अर्थ—जीव के अशुद्ध रागादिक भावों का कारण कर्म है, उस कर्म के कारण जीव के रागादि भाव हैं। यह परस्पर का कार्यकारणपना ऐसा ही है जैसे कि किसी पुरुष का उपकार कर दे तो वह उपकृत पुरुष भी उसका बदला चुकाने के लिये उपकार करने वाले का प्रत्युपकार करता है।

भावार्थ—यह संसारी आत्मा अनादि काल से कर्मों का बन्ध कर रहा है, उस कर्म बन्ध में कारण आत्मा के रागद्वेष भाव हैं। रागद्वेष के निमित्त से ही संसार में भरी हुई कार्माण वर्गणाओं को अथवा विस्रसोपचयों को यह आत्मा खींचकर अपना सम्बन्धी बना लेता है। जिस प्रकार कि अग्नि से तपा हुआ लोहे का गोला अपने आसपास भरे हुए जल को खींचकर अपने में प्रविष्ट कर लेता है। जिन पुद्गल वर्गणाओं को यह अशुद्ध जीवात्मा खींचता है वे ही वर्गणाऐं आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप (एकमएक) से बंध जाती हैं। बंध समय से उन्हीं वर्गणाओं की कर्मरूप पर्याय हो जाती है। फिर कालान्तर में उन्हीं बांधे हुए कर्मों के निमित्त से चारित्र के विभाव भाव रागद्वेष बनते हैं फिर उन रागद्वेष भावों से नवीन कर्म बंधते हैं। उन कर्मों के निमित्त से फिर भी रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पहले कर्मों से रागद्वेष से नवीन कर्म होते रहते हैं। यही परस्पर में कार्य कारण भाव अनादि से चला जाता है।

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्ततः॥
एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः।
संसारः स च दुर्मोच्यो विना सम्यग्दृगादिना॥

अर्थ—पहले कर्म के उदय से रागद्वेष-भाव पैदा होते हैं,उन्हीं रागद्वेष भावों से नवीन कर्मों का संचय होता है, उन आये हुए कर्मों के पाक (उदय) से फिर रागद्वेष भाव बनते हैं, उन भावों से फिर नवीन कर्मों का बन्ध होता है,

इसी प्रकार प्रवाह की अपेक्षा से जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि से चला आया है। इसी सम्बन्ध का नाम संसार है अर्थात् जीव की रागद्वेष रूप अशुद्ध अवस्था का नाम ही संसार है। यह संसार बिना सम्यग्दर्शन आदि भावों के नहीं छूट सकता है।

भावार्थ—''संसरणं संसार'' परिभ्रमण का नाम संसार है। चारों गतियों में जीव उत्पन्न होता रहता है इसी को संसार कहते हैं। इस परिभ्रमण का कारण कर्म है। जैसा कर्म का उदय होता है उसी के अनुसार गति, आयु, शरीर आदि अवस्थायें मिल जाती हैं उस कर्म का कभी कारण आत्मा के रागद्वेष भाव हैं इसलिये संसार के कारणों को ही आचार्य ने संसार कहा हैं। यह संसार तभी छूट सकता है जबकि संसार के कारणों को हटाया जाय। संसार के कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच हैं। इन पाँचों के प्रतिपक्षी भाव भी पांच हैं। मिथ्यादर्शन का प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार अविरति का विरतिभान, प्रमाद का अप्रमत्तभाव, कषाय का अकषायभाव, और योग का अयोगभाव प्रतिपक्षी है। जब ये सम्यग्दर्शनादिक भाव आत्मा में प्रकट हो जाते हैं तो फिर इस जीव का संसार भी छूट जाता है।

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः।
सोपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तदद्वयोरिति॥

अर्थ—आत्मा और कर्म का जो बन्ध होता है, वह केवल दोनों के सम्बन्ध मात्र से ही नहीं हो जाता है, किन्तु आत्मा के अशुद्ध भावों से होता है। और वह परस्पर दोनों की अपेक्षा भी रखता है।

भावार्थ—बन्ध दो प्रकार का होता है। एक तो दो वस्तुओं के मेल हो जाने मात्र से ही होता है। जैसे कि सूखी ईंटों को परस्पर मिलाने से होता है। सूखी ईंटों का सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। दूसरा ईंटों का वह सम्बन्ध जो कि चूने के लगाने से वे सब ईंटें एकरूप में हो जाती हैं। यद्यपि यह मोटा दृष्टान्त है तथापि एकदेश में घनिष्ट सम्बन्ध में घटता ही है। दूसरा दृष्टान्त जल और दूध का भी है। इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध जीव और कर्म के प्रदेशों के एक रूप हो जाने पर ही

होता है। इस सम्बन्ध में कारण आत्मा के अशुद्ध भाव ही हैं। कर्म सम्बन्ध और अशुद्ध भाव इन दोनों में परस्पर अपेक्षा हैं, अर्थात् एक दूसरे से परस्पर कार्य कारण भाव है।

अयस्कान्तोपलाकृष्ट सूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी॥

अर्थ—जिस प्रकार चुम्बक पत्थर में सुई को खींचने की शक्ति है उसी प्रकार जीव और पुद्गल दोनों में वैभाविकी नामा एक शक्ति है जो कि दोनों में परस्पर बन्ध का कारण है।

भावार्थ—जिस प्रकार चुम्बक पत्थर में खींचने की शक्ति है उसी प्रकार लोहे में खींचे जाने की शक्ति है। यदि दोनों में खींचने और खींचे जाने की शक्ति न मानी जाय तो चुम्बक पत्थर के सिवा पीतल चाँदी आदि से लकड़ी पत्थर भी खिंचने चाहिये। इसलिये मानना पड़ता है कि दोनों में क्रम से खींचने और खिंचने की शक्ति है। उसी प्रकार जीव में कर्म के बांधने की शक्ति है और कर्म में जीव के साथ बंधने की शक्ति है। जब जीव और कर्म दोनों के क्रम से बाँधने और बँधने की शक्ति है तब दोनों का आत्मक्षेत्र में बंध हो जाता है। आत्मा में ही बांधने की शक्ति है इसलिये आत्मा में ही कर्म आकर बंध जाते हैं। जीव और पुद्गल ही अपनी शुद्ध अवस्था को छोड़कर बन्ध रूप अशुद्ध अवस्था में क्यों आते हैं। धर्म-अधर्म आदिक द्रव्य क्यों नहीं अशुद्ध होते। इसका यही कारण है कि वैभाविक नामा गुण इन दो (जीव, पुद्गल) द्रव्यों में ही पाया जाता है इसलिये इन दो में ही विकार होता है, शेष द्रव्यों में नहीं होता।

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः।
प्रत्येकं तदद्वयं यावत्तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात्॥

अर्थ—वास्तव में बन्ध तीन प्रकार का है। भावबंध, द्रव्यबंध, और उभयबंध। उनमें भाव बन्ध और द्रव्य बंध तो अलग-अलग स्वतन्त्र हैं, परन्तु तीसरा जो उभयबन्ध है वह जीव और पुद्गल दोनों के मेल से होता है।

भावार्थ—बन्ध का लक्षण है कि ''अनेकपदार्थानामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्ध विशेषो बन्धः'' अर्थात् अनेक पदार्थों में एकत्व बुद्धि को उत्पन्न करने वाले सम्बन्ध का नाम बन्ध है। यहाँ पर बंध तीन प्रकार का बतलाया गया है उसमें उभय बन्ध तो जीवात्मा और पुद्गल कर्म, इन दोनों के सम्बन्ध होने से होता है। बाकी का जो दो प्रकार का बन्ध है वह द्वन्द्वज नहीं है किन्तु अलग-अलग स्वतंत्र है। भावबन्ध तो आत्मा का वैभाविक (अशुद्ध) भाव है और द्रव्य बन्ध पुद्गल का वह स्कन्ध है जिसमें कि बन्ध होने की शक्ति है। इन दोनों प्रकार के अलग-अलग बन्धों में भी एकत्व बुद्धि को पैदा करने वाला बन्ध का लक्षण जाता ही है क्योंकि रागात्मा जो भाव बंध है वह भी वास्तव में जीव और पुद्गल का ही विकार है, यह राग पर्याय जीव और पुद्गल दोनों के योग से हुई है। आत्मांश की अपेक्षा से राग पर्याय जीव की बतलाई जाती है और पुद्गलांश की अपेक्षा से वही पर्याय पुद्गल की बतलाई जाती है। रागपर्याय दोनों की है इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव पुद्गलात्मक हो जाता है अथवा पुद्गल जीवात्मक हो जाता है किन्तु दोनों के अंशों के मेल से रागपर्याय होती हैं। जो द्रव्य बन्ध है वह भी अनेक परमाणुओं का समुदाय है तथा उभय बन्ध में तो बन्ध का लक्षण स्पष्ट ही है। इसलिये इस बन्ध और अबन्ध को भेद विज्ञान के द्वारा ठीक समझ कर हे योगी ! आत्म बोध सहित इसका आचरण करो।

यह आत्म-प्रबोध ही संसार के कारण शुभाशुभ कर्मों को नष्ट करने तथा मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति का कारण जो विशुद्धि है, उसे बढ़ाने वाला है। परम कल्याणकारी पवित्र आत्म-प्रबोध ज्ञायक स्वभाव है। यह द्रव्य कर्म, भावकर्म और नो कर्मों से रहित है।

परनिमित्त से जो आत्मा में जो राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं, उन्हें भाव कर्म कहते हैं। एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों सहित ज्ञानावरणादि अष्ट-कर्म द्रव्य कर्म हैं। औदारिकादि शरीर को नो कर्म कहा गया है। भाव कर्म और द्रव्यकर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। कर्मोदय से आत्मा में रागद्वेषादि रूप परिणाम होते हैं जिससे नवीन कर्मों का संचय होता है।

पूर्व-कर्म का उदय और नवीन कर्म के बंध का कार्य एक ही समय में होता है। यह जीव कर्मोदयकाल में नौ कर्म (बाह्य निमित्तों) में इष्टानिष्ट बुद्धि करके संसार-भ्रमण का भाजन बन जाता है। यदि ऐसी बुद्धि न करे तो कोई भी नो कर्म आत्मा के साथ जबरदस्ती कर्म-बन्ध नहीं कर सकता। जिस प्रकार जीव पुद्गल के गमन में धर्मास्तिकाय (धर्मद्रव्य) उदासीन निमित्त है उसी प्रकार नो कर्म, कर्मबन्ध में उदासीन निमित्त है।

निमित्त दो प्रकार के होते हैं– पहला प्रेरक निमित्त और दूसरा उदासीन निमित्त। यह वस्तु का स्वभाव है। जहाँ उपादन की पूर्ण तैयारी होगी वहाँ ही निमित्त उपस्थित हो जायेगा। यदि निमित्त उपस्थित न हो, तो उपादान को उसकी राह देखनी पड़ेगी। द्रव्य कर्म का उदय सब प्रेरक निमित्त है। उपस्थित न हो, तो उपादान को उसकी राह देखनी पड़ेगी। जिस प्रकार महावीर भगवान की वाणी गौतम गणधर के निमित्त से खिरी ऐसे द्रव्य कर्म का उदय सब प्रेरक निमित्त है। ज्ञानी-अज्ञानी के देखने की रीति भिन्न हैं। ज्ञानी पदार्थों को पर्याय दृष्टि से न देखकर स्थायी स्वभाव की दृष्टि से अवलोकन करता है इस कारण उन्हें पर्याय-बुद्धि के फल स्वरूप रागद्वेष नहीं होता है। जो जीव ज्ञान परिणाम से शून्य हैं वे अपने मन के संकल्प विकल्पों का निग्रह करने में असमर्थ रहते हैं।

जो निमित्त प्रेरणा देकर कार्य करता है, वह प्रेरक निमित्त है। जो स्वयं होते हुए कार्य में सहायक बन जाता है, वह उदासीन निमित्त है। ज्ञान-रत्न, मन को जीतने में उत्तम साधन है। यह हाथी, बन्दर, पिशाच अथवा सर्प सदृश मन ज्ञान-रूपी अंकुश के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं जीता जा सकता है। जैसे जंगल में स्वच्छन्दतापूर्वक भ्रमण करता हुआ मदोन्मत्त गजराज तीक्ष्ण अंकुश या बर्छी की मार से वश कर दृढ़ सांकल से जकड़ कर बांध लिया जाता है। जिस प्रकार कपिराज क्षण भर के लिये भी चंचलता नहीं तजता, उसी प्रकार चित्त (मन) भी विषयों के बिना स्थिर नहीं रहता है। यद्यपि अत्यन्त काला सर्प महाविष संयुक्त है तथापि विधिपूर्वक मंत्र सिद्ध किया गारुड़ी उसे वश में कर लेता हैं। इसी प्रकार भूत-पिशाच भी मंत्र द्वारा आधीन

हो जाता है। मन-मर्कट वश में करने के लिये ज्ञानाभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है। सच बात यह है कि पताका बाँस पर स्थिर रहती है, कितनी भी प्रचण्ड पवन चले पर वह बाँस पर ही स्थिर रहेगी, नीचे नहीं आयेगी। इसी प्रकार विशुद्ध परिणामी जीव के हृदय समुद्र में कितनी ही चंचल प्रचण्ड लहरें उछलें परन्तु वे सब उसी हृदय-समुद्र के जल में ही शान्त हो जायेंगी बाहर न जायेंगी।

ज्ञानी के हृदय-स्थान मे जो ज्ञान रूपी दीपक प्रकाशमान है, वह उत्कृष्ट प्रकाश है। वायु आदि कोई भी द्रव्य उसका विनाश नहीं कर सकता। सूर्य-प्रकाश तो राहु गम्य है वह आकाश में मेघ-मालाओं से आच्छादित हो जाता है, परन्तु ज्ञान-सूर्य सदैव प्रकाशमान रहता है।

आत्मा सदैव अपने भावों को ग्रहण करता और छोड़ता है। जड़ कर्म को न तो आत्मा ग्रहण करती है और न छोड़ती है। जड़ की अवस्था जड़ के कारण ही होती है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। यह जीव पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि कर रागी-द्वेषी बनता है और उसके फलस्वरूप नाना प्रकार से कर्म-बंध करता है। आत्माओं की अवस्थाओं का कर्ता स्वयं आत्मा ही है। यह आत्मा अनादिकाल से वही का वही है। कभी इसने अपने स्वाधीन स्वभाव को जानकर आश्रय नहीं लिया। सदैव पर का आश्रय लेकर पर को ही अपनाता रहा है। इस पराश्रय से कभी इसे शान्ति नहीं मिली आत्मा का सुख 'पर' में न होने से वह पराश्रय से कैसे सुखी हो सकता है ?

इसलिये हे योगी ! पर भाव को मन, वचन, काय से त्याग कर अपने सच्चिदानन्द, निजानन्द आत्मस्वरूप में लीन होकर आप अपने को देखकर आप अपने अन्दर आचरण करने से आपके अन्दर ही आप सुख शांति को प्राप्त कर सकता है।

नोडिरे कोंडाटक्कंमाडुव मन्नणोगे मत्ते सत्कारक्कं॥
कूडि बहिरात्म नक्कट कूडदे माण्दपने देव दुर्गतियेडेयोळ्॥21॥

भावार्थ—कितने आश्चर्य की बात है कि यह बहिरात्मा अज्ञानी जीव लाभ, ख्याति, पूजा और स्तुति आदि से प्रसन्न होता है। दूसरों द्वारा किये

जाने वाले सत्कार तथा मान्यता, जनता द्वारा किये जाने वाले बाह्याडम्बर और लौकिक ख्याति पर अहंकार करता है। वह बाह्य क्रियाकाण्ड, बाह्य तपश्चर्या और उपवास के निमित्त होने वाले काय क्लेश से अपने आपको कृतकृत्य समझता है। इतना ही नहीं, वह अपने वचन चातुर्य या वचन पटुता से लोगों को विभोर कर अपनी ख्याति को दुनिया में प्रगट करने के प्रयत्न में हमेशा लगा रहता है। इस तरह बाह्याडम्बर में निमग्न रहने वाला योगी निजात्म तत्त्व से बहिर्मुख होकर दुर्गति में महान दु:ख सहन करता है। परन्तु इस बहिरात्मा अज्ञानी जीव को श्री सद्‌गुरु का उपदेश अत्यन्त कड़ुवा लगता है और बाह्य पंचेन्द्रिय विषय को ही अपनी आत्मा मान कर उसमें ही संतोष मानता है। जिससे यह नरकादि चारों गतियों के दु:खों को निरन्तर भोगता हुआ संसार में भ्रमण करता है।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में कहा है कि यह अज्ञानी बहिरात्मा जीव लोक के द्वारा की जाने वाली पूजा अर्चा, सत्कार, स्तुति तारीफ आदि तथा ख्याति लाभादि प्रतिष्ठा से प्रसन्न होकर बाह्याडंबर और बाह्य क्रिया के आधीन होकर आयु के अन्त में दुर्ध्यान से शरीर त्याग करके दुर्गति को प्राप्त होता है, यह कितने आश्चर्य की बात है। कहा भी है कि—

रच्चेय संभ्रमक्के कुणिदिच्छेय कूळुगुतं क्षणांतदोळ्।
किच्चिन कोडंमं पृगुवरंडेय वोल्विषयं गळिच्छेयं॥
मेच्चि मनक्के बंदतेरदोलून डेदोल्लदे सुव्रतंगळ।
हुच्चरो दुर्गति स्थलके वीळ्वरदेकपराजितेश्वरा॥

हे अपराजितेश्वर ! बाह्यडम्बर, विलास के लिये नाचते हुए मनमाने आहार को अर्थात् रुचिकर आहार को करते हुए मतिभ्रष्ट होकर विषयाभिलाषा में मुग्ध होकर, मनमानें आचरण कर, अच्छे व्रत नियम संयमादि धारण न करके दुर्गति में स्थान को क्यों प्राप्त होता है ? क्या वे पागल हैं ? नहीं, परन्तु यह कि बहिरात्मा का स्वभाव है। इनको हिताहित का विचार नहीं रहता है।

जिस प्रकार गन्ने को हरे पत्ते सहित लाकर भैंस के पास रख दो तो भैंस रस सहित गन्ने को न खा करके केवल ऊपर के हरे पत्ते खाकर अपने

को सुखी मानती है। उसी तरह से बहिरात्मा जीव अनादि काल से बाह्य पंचेन्द्रिय विषयों को ही सुख मान कर अपने को सुखी मानता है अर्थात् अपने अन्दर ही निजात्म सुख को अनुभव न करके बाह्य सामग्री को चाहता है। पंचेन्द्रिय विषय की पूर्ति करने के लिये अनेक प्रकार के छल-कपट आदि करता है। लोगों को नाना तरह से फंसाने की चेष्टा करता है। इस प्रकार अनेक प्रकार से अपनी चतुराई के द्वारा यह बाह्य सामग्री जुटाने में लगा रहता है। इसको क्षण मात्र भी बाह्य प्रपंच से छुट्टी नहीं मिलती है। जैसे चूहा धान के एक कण के लिये रात भर मिट्टी खोदकर ढेर करता है और अन्त मे जब प्रभात होता है तो मनुष्य की आहट सुनकर वहाँ से सभी छोड़कर भाग जाता है। इसी तरह आडम्बर में लिप्त हुआ मूर्ख मनुष्य रात दिन पंचेन्द्रिय क्षणिक वस्तु को एकत्रित करने में लगा रहता है। जब आयु का अन्त आ जाता है, तब यमराज की आवाज कान में पड़ते ही सब कुछ जहाँ का तहाँ छोड़कर दूसरी गति मे चला जाता है। कैसी दयनीय स्थिति है कि अनादिकाल से यह जीव परद्रव्य के निमित्त से अपने को भूल कर हमेशा परद्रव्य के व्यवसाय में अपने जीवन को व्यतीत करता रहता है और अन्त में इस मनुष्य पर्याय को छोड़कर चला जाता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीव ! तू अब तो चेत। इस प्रकार मनुष्य पर्याय को पंचेन्द्रिय सुख के लिये व्यय करना ठीक नहीं है।

सद्गुरु कहते हैं कि हे भव्य प्राणी ! अनन्त भवों में कभी प्राप्त न हुआ अवसर तुझे आज प्राप्त हुआ है। इस भव में जो प्राप्त हुआ निरोगी शरीर आदि, आत्मिक विकास का साधन अर्पण करने वाले धार्मिक माता-पिता तथा सुदेव सुगुरु सुशास्त्र आदि की प्राप्ति तुझको हुई है। ये मनुष्य भव अनन्तानन्त भव बिताने के बाद आज तुझे प्राप्त हुआ है, इतना ही नहीं दुनिया की साधन सामग्री भी पूर्णतया प्राप्त हुई है। शरीर की आरोग्यता तुझे साथ-साथ प्राप्त हुई है, इसी के द्वारा तू आज इस संसार में मौज कर रहा है। सारी चिन्ता मिटाने वाला यह तेरा नीरोग शरीर है। परन्तु अपनी चिन्ता को मिटाने के लिये प्रत्येक तरह की सामग्री जुटाता रहता है। घर से मेरी चिन्ता मिटेगी, स्त्री से चिन्ता मिटेगी, परिवार से चिन्ता मिटेगी, खान-पान आदि से चिन्ता मिटेगी,

अच्छा मित्र मिल जाये तो चिन्ता मिटेगी, इस प्रकार चिन्ता मिटाने के लिये अनेक सामग्री जुटाई परन्तु बड़े-बड़े चक्रवर्ती स्वर्गीय इन्द्र कुबेर आदि को भी अनेक प्रकार की भोग सामग्री प्राप्त हुई, परन्तु उससे संसार की चिन्ता मिटी नहीं। अगर कदाचित् संसार की चिन्ता मिटाने वाली सामग्री प्राप्त हो जाये तो दूसरी चिन्ता आधि व्याधि उत्पन्न हो जाती है। तब आधि व्याधि की चिन्ता दूर करने के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है। परन्तु दुनिया की सारी चीज एकत्रित की जाय तो भी यह चिन्ता दूर नहीं हो सकती। इसलिये सद्गुरु कहते हैं कि हे मूर्ख प्राणी तुझे इस समय बहुत सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ है इसलिये तुझे धन आदि वैभव प्राप्त होने पर भी उसके साथ सम्यग्ज्ञान पूर्वक चारित्र अगर प्राप्त हो जाय तो इस संसार की चिन्ता दूर करने की अपेक्षा अपने आत्मा को स्थिर करने की चिन्ता करो। जब तेरी आत्मा स्थिर हो जायेगी तब पर की चिन्ता अपने आप ही मिट जायेगी।

हे अज्ञानी जीव ! तुझे पूर्व जन्म के पुण्य के निमित्त से मिला हुआ निरोग शरीर और पंचेन्द्रिय विषय सामग्री आदि जो वैभव प्राप्त हुआ है, इसके साथ-साथ अगर तेरे अन्दर सम्यग्दर्शन की भी प्राप्ति हो जाये तो इस भव की सार्थकता है। अगर सम्यग्दर्शन के साथ-साथ ज्ञान और चारित्र धारण करने की इच्छा हो तो तेरे समान पण्ड़ित और ज्ञानी कौन हो सकता है ? तू इस लोक और परलोक में दोनों सुखों का अनुभव करके अन्त में तू इस शरीर के द्वारा सच्चे आत्मिक वैभव को प्राप्त कर सुख और शान्ति का अुनभव करेगा। तू अणुव्रत लेकर अपने जीवन को शान्तिपूर्वक संसारी इन्द्रियादि भोग विषय में अरुचि रखते हुए जितना अपने को पालन करना शक्य हो उतना आचरण करते हुए इस मनुष्य जन्म को सार्थक कर सकता है क्योंकि इस संसार में थोड़ी सम्पत्ति हो या बड़ी सम्पत्ति हो तो भी अनेक प्रकार की विडम्बना आकर खड़ी होती हैं। जितना-जितना विडम्बना विघ्न आदि उपस्थित होता है उतना-उतना मन में संक्लेश उत्पन्न होने लगता है। इसी संक्लेश परिणाम को दूर करने के लिये अनेक प्रकार का कूट व्यवहार अर्थात् कपट व्यवहार करने पर भी वह विडम्बना दूर नहीं हो सकती। इसलिये उसमें सुख

आज तक किसी को भी प्राप्त हुआ नहीं है। जितनी भी भोग सामग्री एकत्रित की जाय उतनी-उतनी अशान्ति बढ़ती जाती है और इससे अज्ञानता नहीं टलती है। इसलिए इससे मोह-माया आदि की आसक्ति दूर नहीं हो सकती है। अनेक प्रकार की विडम्बना बढ़ती ही जाती है। हे अज्ञानी जीव ! यह बताओ आज तक इस आडम्बर से, इस बाह्य सम्पत्ति से तुझे सुख और शान्ति कितनी मिली है।

हे अज्ञानी प्राणी ! सांसारिक क्षणिक सम्पत्ति से इस पंचेन्द्रिय सुख की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है। यह आकाश के बादल के समान सीमित है। जैसे बादल को थोड़ी सी हवा लग जाये तो यह विलीन हो जाता है। जब इस क्षणिक सम्पत्ति को पाप की हवा लगती है उसी समय यह नष्ट हो जाती है। उदाहरणार्थ—एक धनाढ्य को जब एक पुत्र हुआ तो उसकी चिन्ता बढ़ गई। धन सम्पन्न होने की इच्छा और बढ़ गई। वह मन में विचार करता है कि लखपति बन जाऊँ। बरसात के दिनों मे नदी की बाढ़ आ रही थी उसमें अनेक प्रकार के बड़े-बड़े झाड़ लकड़ी आदि उस नदी में बह कर आ रहे थे तब यह देखकर उसके मन में हर्ष का पार नहीं रहा। मन में विचारा कि अगर मैं दरिया में जाकर आने वाली एक-एक लकड़ी या पेड़ को इकट्ठा करूँ तो एक-एक पेड़ हजार-हजार रूपये में बिकेगा तब थोड़े दिनों में करोड़पति बन जाऊँगा। मेरा परिवार सुख शान्ति से अपने दिन व्यतीत करेगा। तब मुझे किसी प्रकार की चिंता नहीं रहेगी। इससे मैं सारे जगत में ख्याति प्राप्त करूँगा। मेरी सलाह बिना कोई काम नहीं करेंगे और मेरी राय लेंगे। प्रत्येक सभा में मैं प्रमुख हो जाऊँगा। इस प्रकार अनेक प्रकार की आशाओं में हमेशा डूबा रहता है। जब उस नदी में बाढ़ आई तो उसने अनेक प्रकार की आने वाली लकड़ी को इक्ट्ठा करने के लिए नदी में प्रवेश किया। बड़ी-बड़ी लहरें थीं और बिजली चमक रही थी। घोर बादलों की घटा आने लगी। आँधी भी बहुत तेज चल रही थी और ठंड भी पड़ रही थी, शरीर भी कांपने लग रहा था। ऐसी स्थिति

में उसने नदी में प्रवेश करके रोज लकड़ी इकट्ठी करना शुरू कर दिया। वह लकड़ी नाव के द्वारा लाता-था। एक दिन उस नाव पर बहुत ज्यादा लकड़ी का बोझा लादा था बीच में जोर से आँधी आ गई। हवा के जोर से उस नाव पर बहुत जोर की टक्कर लग रही थी। और उस में पानी भरा और वह नाव दरिया के अन्दर बैठ गया। माल तो सारा चला गया उसकी कोई बात नहीं परन्तु जीवन पर भी आपत्ति आने लगी, अफसोस करने लगा। दु:ख का पार नहीं रहा। आयु का भरोसा नहीं रहा फिर भी पुण्य का उदय होने के कारण एक लकड़ी का टुकड़ा उसके हाथ लगा, उसके सहारे उस महान नदी को पार कर किनारे परआ गया परन्तु लाखों रुपयों का माल उस नदी में डूब गया। डूबने से उसके हृदय में अत्यन्त दु:ख हुआ। हृदय की गति बन्द होने के कारण उसी में आयु को समाप्त कर देता है। वह मर कर उत्तम मनुष्य पर्याय को छोड़कर एक निंद्य गति को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार अनेक व्यक्ति इसी भाँति इच्छा करके अन्त में निंद्य गति को प्राप्त होते हैं। आज तक किसी की आशापूर्ण नहीं हुई इसलिए प्रत्येक मानव को भिन्न-भिन्न प्रकार के परिणामों से मरण के शरण जाना पड़ता है। परन्तु मरण किसी को पसन्द नहीं। इसलिए मरण का भय प्रत्येक प्राणी को है। इसलिए सम्यग्ज्ञानी कहते हैं कि हे प्राणियों तुमको सुख और शांति चाहिए तो मोह निद्रा त्याग कर जाग्रत हो जाओ। अगर मृत्यु का भय नहीं चाहते हो, जन्म मरण में पड़ना नहीं चाहते हो तो तुम आत्म सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करो। आयु का कोई भरोसा नहीं है। अत: तुम अपने निज स्वरूप के प्रति अपने उपयोग में लग जाओ और पर उपयोग से अपने मन को अपने निजात्मा की तरफ लगाकर पर वस्तु का त्याग करने का अभ्यास करो। ऐसा करने से तुझे थोड़े भव के लिए संसार का भय रहेगा। आगे नहीं रहेगा। इसलिए धर्म की आराधना में अपने मन को लगाने की चेष्ट करनी चाहिए। इस तरह से मनुष्य पर्याय का उपयोग इस आत्म संयम की तरह या चारित्र धारण करने की तरफ लग जाय तो संसार की अनेक प्रकार की विपत्ति हमेशा के लिये दूर हो जायेगी।

अरे मूर्ख प्राणी! संसार विलास के लिये अनेक प्रकार का आरम्भ किया और आरम्भ करके नरक का ही साधन किया। उस साधन को जुटाते समय एक मिनट भी तुझे फुरसत नहीं मिली। फिर नरक में सुख और शान्ति कहाँ से मिलेगी? वहाँ पर दु:ख ही दु:ख भोगना पड़ता है। वहाँ से निकल कर कदाचित् नीच पर्याय में पशु पक्षी या नीच गति को प्राप्त करेगा और वहाँ पर भी दु:ख ही दु:ख उठाना पड़ेगा। हे प्राणी! अगर तू सुख और शान्ति चाहता है और दो चार मिनट भगवान के गुण गान स्तुति आदि में उपयोग लगायेगा तो संसार का बन्धन तोड़ने में बहुत आसान होगा। अगर तुझे रुचि नहीं है माया अंहकार के जोर से अहंकारी बनकर भगवान की भक्ति सेवा से वंचित होकर अज्ञान में तेरा चित रमता रहेगा तो आगे चल करके पशु बनकर अनेक प्रकार का दु:ख उठाना पड़ेगा। हे अज्ञानी जीव! अब तो चेत दूसरे भव में चेतने का साधन नहीं मिलेगा। आत्म धर्म में अपने मन को स्थिर करो। जैसे रोगी दवाई खाकर भीतर से रुचि पूर्वक पथ्य करता है तो रोग दूर हो जाता है। इसी तरह भगवान वीतराग की वाणी रूपी दवाई को पीकर अपने भीतर उतार। तभी कर्म रूपी रोग से तू मुक्त होकर निरोगी बन सकता है। नहीं तो कर्म से छूटने की उम्मीद नहीं है। इसलिये भगवान जिनेन्द्र के तत्व के प्रति श्रद्धान रखो। जब तक उन तत्वों के प्रति रुचि नहीं होगी तब तक तुझे संसार की दु:ख रूपी चिन्ता बनी रहेगी। आचार्य ने बताया है कि हे प्राणी! विषय वासनाका मन से त्याग करो। विषय वासना हमेशा इस आत्मा को जन्म मरण के चक्कर में भ्रमण कराने वाली है।

उदाहरणार्थ—किसी व्यक्ति ने नदी में एक सुन्दर पका हुआ पीला अत्यंत स्वादिष्ट बिजौरा का फल आता हुआ देखा। तब वह व्यक्ति तुरन्त ही नदी में कूद कर उस फल को ले आया और वह फल अत्यन्त स्वादिष्ट होने के कारण मन में विचार किया अगर मैं इस फल को लेजा कर राजा को दे दूँ। तो मुझे बहुत इनाम मिलेगा। इस तरह विचार कर उस फल को ले जाकर राजा के हाथ में दे दिया।

राजा ने उस फल को हाथ में ले करके देखा वह फल अत्यन्त सुगन्धित था इसलिये वह उस व्यक्ति से अत्यन्त खुश हुआ। तुरन्त ही सभा में

ही बैठे-बैठे राजा फल खाने लगा। फल अत्यन्त मीठा था। उस मीठे फल के स्वाद से राजा उसमें आसक्त हो गया और राजा ने पूछा कि ऐसे स्वादिष्ट फल होते कहाँ हैं? सभा में से एक विद्वान पुरुष खड़ा होकर कहने लगा कि बिजौरा नदी के किनारे बाग है उस बाग में एक वृक्ष है। यदि कोई वहाँ जाता है तो यक्ष बिजौरा फल को नदी में गिरवाता है और उस मनुष्य को मारकर वहाँ के कुएँ में डाल देता है। लाने वाले का मरण वहीं हो जाता है राजा इस बात को कब मानने वाले थे अर्थात् नहीं माने। प्रजा लोगों को आपत्ति में डालकर उसने आदेश दे दिया। इसी प्रकार मेरी आज्ञा को आप लोगों को पूरा पालन करना ही होगा मुझे अवश्य यह फल मिलना चाहिए। इस प्रकार जबरदस्ती से एक एक व्यक्ति को बारी बारी से भेजने का आदेश दिया। राजा की जिद्द से या भय से प्रजा को बात माननी पड़ी। मनुष्यों के नाम से चिट्ठी लिखकर घड़े में रखते और वह चिट्ठी जिनके नाम से निकल आती वह व्यक्ति फल को लेने जाता। इस प्रकार नम्बर वार जाते थे। राजा के मन में यह विचार नहीं आता था कि मेरे स्वाद के लिए कितने जीवों की हत्या होगी इस बात का विचार नहीं रहता था। जिह्वा इन्द्रिय के लम्पटी राजा को ऐसे ज्ञान होना कठिन होता है। इस प्रकार कई दिन चलते चलते एक दिन एक व्रतधारी मनुष्य की बारी आयी। वह णमोकार मंत्र की आराधना रुचिपूर्वक रोजाना किया करता था। उसका भगवान जिनेन्द्र देव के मार्ग के प्रति गाढ़ श्रद्धान था और सदा मन में पंच परमेष्ठी का स्मरण किया करता था। प्रत्येक जीव के प्रति क्षमा याचना करता था, हर समय णमोकार मंत्र का मनः पूर्वक जाप करता था। परन्तु उस दिन उस व्रती पुरुष को णमोकार मंत्र की जाप करने का समय न मिलने के कारण वह पुरुष णमोकार मंत्र का उच्चारण करते हुए उस यक्ष के बाग में पहुँचा। उस बाग में पहुँचते ही उस पुरुष के मुख से णमोकार मंत्र निकला। उस मंत्र को सुनकर राक्षस को पूर्व भव का स्मरण हुआ कि मैंने पूर्व भव में संयम धारण किया था परन्तु संयम की विराधना करने से मैं इस नीच व्यंतर कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। इसलिये हे सज्जन पुरुष! इस मंत्र को मुझे दीजिये और मेरा उद्धार कीजिये। मैं आपको नहीं खाऊँगा। तब उस व्रती पुरुष ने कहा—मुझे मार डालने पर भी मुझे इसकी परवाह नहीं

है परन्तु मैं इस व्रत को आपको दे नहीं सकता हूँ। तब राक्षस ने कहा अरे भाई हे महानुभाव मेरा उद्धार कीजिये इस मंत्र को मुझे दे दो। तब उन्होंने कहा कि अगर इस मंत्र को लेना है और अपने जीवन को सुधार लेना चाहता है तो हे यक्ष! अपने जीव में जीव हिंसा नहीं करना और किसी भी जीव को नहीं मारने की प्रतिज्ञा करो। तब मैं इस मंत्र को आपको दे सकता हूँ। इस बात को सुनकर उस यक्ष ने हमेशा के लिए हिंसा का त्याग कर दिया तत्पश्चात् उस व्रती पुरुष ने उसको णमोकार मंत्र दिया उसके बाद उस यक्ष के साथ घनिष्ट सम्बन्ध हुआ प्रेम हुआ और हमेशा को मित्रता बन गई। तत्पश्चात् वह व्रती बिजौरा के फल को लेकर राजा के पास आया। उसको देखकर बड़े आश्चर्य के साथ सोचा कि यह पुरुष वहाँ से बचकर कैसे आया? ऐसे मन में आश्चर्य करते हुए उस राजा ने उस व्रती पुरुष से पूछा कि भाई तू उस यक्ष राक्षस से बचकर इस फल को अपने हाथ में लेकर जिन्दा कैसे आया?

इसके उत्तर में श्रावक जिनदास ने उत्तर दिया कि मैं व्रतधारी होने के कारण इस णमोकार मंत्र का जाप किये बिना अन्यत्र गमन नहीं करता हूँ। इसलिए समय का अभाव होने से इस मंत्र को रास्ते में जोर-जोर से पढ़ता हुआ उस यक्ष के बगीचे में पहुँचा। उस मंत्र को जब मैं पढ़ रहा था उस समय इसकी आवाज सुन करके यक्ष देवता तुरन्त ही मेरे पास आया। तुरन्त आते ही उसने णमोकार मंत्र का शब्द अपने कानें से सुनते ही स्तब्ध रह गया। थोड़े समय में उसे पूर्व भव की याद आई मन में विचार करने लगा कि अरे मै पूर्व में व्रती संयमी था और बीच में संयम भ्रष्ट होने के कारण दुर्ध्यान से मरकर इस बीच यक्ष की योनि में जन्म ले लिया है। मुझे धिक्कार है। इस तरह से पश्चाताप करते हुए वह यक्ष देव मेरे से प्रार्थना करने लगा कि हे भाग्यवान्! तू मेरा उद्धार कर। जो तुम मंत्र का उच्चारण कर रहे हो उस मंत्र को तुम मुझे दे दो। फिर मैंने पूछा कि तू इस मंत्र को लेकर क्या करेगा? तब उसने कहा कि इस मंत्र के अन्दर अनन्त शक्ति मालूम होती है इस मंत्र का शब्द मेरे कान में पड़ते ही मेरे अन्दर की कुभावना नष्ट हुई है और ये भी बताया कि इस मंत्र के अन्दर ऐसी कौन सी शक्ति है जिसने एकदम मेरे क्रूर परिणाम का मर्दन कर दिया? तब जिनदास ने कहा कि हे यक्ष देव! ये मंत्र अत्यंत पवित्र है इस

मंत्र को जो जीव अपने हृदय से आराधना करता है औरों को संसार में जो चीज प्राप्त नहीं होती वह उसके लिए प्राप्त हो जाती है। इस मंत्र की महिमा अत्यन्त महान है। कल्याण का कारण है। ऐसे सुनकर यक्ष देवता ने प्रार्थना की कि इस मंत्र को मुझे देकर मेरा उद्धार करो। तब मैंने कहा कि अगर तू आज से तेरे बाग में आने वाले मनुष्य को न मारकर फल दे दिया करे तो इस मंत्र को मैं तुझे मैं दे सकता हूँ। अब इस बात की प्रतिज्ञा करो कि भविष्य में आजन्म मैं किसी जीव को नहीं मारूँगा। इस बात को सुनकर के मन में अत्यन्त हर्षित होकर यक्ष देव ने इस बात की प्रतिज्ञा की। जिनदास श्रावक के शरण में नमस्कार करता है और प्रतिज्ञा की कि आज से मैं किसी जीव का वध नहीं करूँगा। तत्पश्चात् मैंने उसे णमोकार मंत्र दिया और इससे मेरा संबंध उससे बंधु का सा होकर अत्यंत प्रेम हो गया और यों वहाँ से बिजौरा फल लेकर आपके पास आया। इस बात को सुनकर राजा मन में अत्यंत खुश होता है और मन में पश्चाताप करता है कि अरे! मैंने संयम का महत्व आज तक समझा नहीं। पंच नमस्कार के महत्व को भी आज तक नहीं समझा और मैंने अपने पंचेन्द्रिय को तृप्त करने के लिए कितने मानवों की हत्या करवा दी। मेरे समान इस संसार में अधम कौन होगा। इस तरह पश्चाताप करते हुए राजा ने जिनदास से प्रार्थना की कि हे महानुभाव! मुझे भी इस मंत्र को देकर मेरा उद्धार करो। उस राजा की प्रार्थना को सुनकर जिनदास श्रावक ने उस राजा को णमोकार मंत्र देकर कहा कि आज से आप किसी के प्रति अत्याचार और जीव हिंसा मत करो और अधर्म का मार्ग छोड़कर सन्मार्ग ग्रहण करो तब यह मंत्र आपको फलदायक होगा। इस बात को सुनकर राजा कुमार्ग छोड़कर भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए मार्ग पर चलकर अत्यन्त धर्मात्मा बन जाता है। कहने का तात्पर्य है कि इस धर्म की महिमा देव भी वर्णन नहीं कर सकते हैं। इसलिये हे मानव प्राणी! ऐसे धर्म को जो एक सैकिण्ड भी हृदय में धारण करले तो उस जीव का कल्याण हो जाता है। और यही धर्म आत्मा का धर्म है अन्यथा नहीं ऐसा समझकर सच्चे आत्म धर्म की ही आराधना करो तभी सुख और शांति मिल सकती है अन्यथा नहीं।

देहादि परद्रव्य सोहं तद्रूप नेंबवं वहिरात्मं।
बाह्यच्युतातं रात्मं देहादि व्याप्ति यिल्लुदं परमात्मं ॥22॥

देहादि जो पर द्रव्य है वही मैं हूँ वही मेरा परमात्मा स्वरूप है। इस प्रकार जो बाह्य शरीर और शरीर सम्बन्धी पंचेन्द्रि विषय और भोगोपभोग वस्तु हैं वहीं मेरी हैं, वही परमात्मा रूप है, ऐसा कहने वाले बहिरात्मा हैं। और देहादि बाह्य वस्तुओं से च्युत होकर न रहने वाला अर्थात् देहादि से भिन्न बाह्य वस्तु को और आत्मा को लक्षण भेद से अलग-अलग रूप से जानने वाला वह अंतरात्मा है। देहादि पर वस्तु के सम्बन्ध से रहित जो शुद्धात्मा है वही परमात्मा है ॥22॥

विवेजन—इस श्लोक में ग्रंथकार ने बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा ऐसी तीन प्रकार के आत्म स्वरूप का वर्णन किया है।

अज्ञानी बहिरात्मा जीव देहादिक—अपने आत्मा से भिन्न पदार्थ को ही अपनी आत्मा मानकर पर द्रव्य में रागी होकर रागभाव से पुद्गलादिकों में परिणमन करता है और कुम्हार के चक्र के समान संसार में परिभ्रमण करता है। उस अज्ञानी बहिरात्मा को एक सैकिण्ड भी संसार चक्र में शांति नहीं मिलती है। कहा भी है कि—

आरारल्लद गर्भ दोळ्वलेयनारारोंदु मूत्राध्वदळ्।
वारं वंदुरे बंधुगलिपितृगलेदेन्नंमनानीकमें॥
दारारेंजंलनुण्णुनात्म झरेनुत्तारार दुर्गधदिं।
वारित्रंगिडनात्मने भ्रमितनो रत्नाकराधीश्वरा॥

रत्नाकर कवि भगवान को सम्बोधन करके पूछता है—हे भगवन! ये आत्मा किस-किस नीच योनि, गर्भ में जन्म लेकर बद्ध नहीं हुआ। किस-किस के मूत्र भाग में से बाहर नहीं आया। उस मूत्र मार्ग से बाहर आकर मेरे बन्धु, मेरे भाई, मेरे माता-पिता, मेरी पत्नी, यह सब मेरा समुदाय इस प्रकार अपने मानकर किस-किस की झूठन नहीं खाई। मेरा पुत्र' इस प्रकार मन में उसके प्रति अत्यन्त प्रेम या उस पर मोहित होकर किस-किस के दुर्गन्ध से अपने आचरण को नष्ट नहीं कराया। इस प्रकार हे भगवान् आत्मा! तू इस पर वस्तु

में, क्षणिक परद्रव्य में इतना भ्रमित क्यों हो गया है। इसलिये हे आत्मन्! तू ने अनादि काल से इन्हीं पुत्र कलत्रादि के मोह के कारण अनेक योनियों में जन्म लिया और भव-भव में दु:ख पाया। इसलिये अब श्री गुरु का उपदेश मानकर स्व पर का ज्ञान करो, अपने शुद्ध निरंजन सच्चिदानन्द, आत्म स्वरूपका ध्यान करो और परवस्तु को अपनी आत्मा से दूर करो। इससे तुझे सुख और शांति मिलेगी और हमेशा के लिये संसार छूट जायेगा इसलिये तू अन्तरात्मा बन जा। कहा भी है कि:—

देह-विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएव।
परम-समाहि-परिट्ठियए पंडिउ सो जि हवेइ॥

भावार्थ—यद्यपि अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय से अर्थात् इस जीव के परवस्तु का सम्बन्ध अनादिकाल का मिथ्यारूप होने से व्यवहारनय से देहमयी है, तो भी निश्चयनय से सर्वथा देहादिक से भिन्न है, और केवलज्ञानी है। ऐसे निज शुद्धात्मा को वीतरागनिर्विकल्प सहजानन्द शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप परमसमाधि में स्थित होता हुआ जानता है, वही विवेकी अन्तरात्मा कहलाता है। वह परमात्मा ही सर्वथा आराधने योग्य है, ऐसा जानना।

इस प्रकार आत्मा का स्वरूप योगीन्द्राचार्य ने बतलाया है कि—

अप्पा लद्धाउ णाणमउ कम्म-विमुक्के जेण।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परू सो परू मुणहि मणेण॥

हे योग! जिसने देहादिक समस्त पर द्रव्य छोड़कर ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, रागादि भाव कर्म, शरीरादि नोकर्म इन तीनों से रहित केवल ज्ञानमयी आत्मा का अनुभव कर लिया है। ऐसी आत्मा को हे योगी! तू माया मिथ्या निदानरूप शल्य आदि समस्त विकार अर्थात् विभाव परिणाम से रहित होकर निर्मल चित्त से परमात्मा जान तथा केवलज्ञानादि गुण वाला परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है और ज्ञानावरणादि रूप सब परवस्तु त्यागने योग्य है इस प्रकार परमात्मा का स्वरूप है। ऐसे परमात्मा का स्वरूप अपने भीतर ही है। पहले कहे हुए तीन आत्मा के भाव को छोड़कर तू आत्मा का ध्यान कर। यह परमात्मा कैसा है? यह सम्पूर्ण ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से रहित है। स्पर्श, गंध वर्ण आदि से रहित है अरूपी है सम्पूर्ण परवस्तु से रहित है। ऐसा परमात्मा

इस देहरूपी मन्दिर में हमेशा वास करता है इसलिये तू उसी का ध्यान कर। कहा भी है कि–

जासु वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु।।
जासु ण कोहू ण मोहू मउ जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु॥
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ॥

आगे फिर उसी परमात्मा का कथन करते हैं– जो अनन्तज्ञानादिरूप अपने भावों को कभी नहीं छोड़ता और जो काम क्रोधादिरूप परभावों को कभी ग्रहण नहीं करता है, तीन लोक, तीन काल की सब चीजों को केवल हमेशा जानता है, वही शिवस्वरूप तथा शांतिस्वरूप है।

भावार्थ–संसार अवस्था में शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से सभी जीव शक्तिरूप से परमात्मा हैं, व्यक्तिरूप से नहीं हैं। ऐसा कथन अन्य ग्रंथों में भी कहा है–'शिवमित्यादि' अर्थात् परमकल्याणरूप, निर्वाणरूप, महाशांत अविनश्वर ऐसे मुक्ति-पद को जिसने पा लिया है, अन्य कोई, एक जगत्कर्ता सर्वव्यापी सदा मुक्त शांत शिवरूप नैयायिकों का तथा वैशेषिक वगैरह का माना हुआ नहीं है। यह शुद्धात्मा ही शान्त है, शिव है, उपादेय है।

आगे पहले कहे हुए निरंजन स्वरूप को तीन दोहा-सूत्रों से प्रगट करते हैं–जिस भगवान के सफेद, काला, लाल, पीला, नीलस्वरूप पाँच प्रकार का वर्ण नहीं है, सुगन्ध दुर्गन्धिरूप दो प्रकार की गंध नहीं हैं, मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु, कषाय रूप पाँच रस नहीं हैं, जिसके भाषा अभाषा रूप शब्द नहीं है, अर्थात् सचित अचित मिश्ररूप कोई शब्द नहीं हैं, सात स्वर नहीं है, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, गुरू, लघु, मृदु, कठिन रूप आठ तरह का स्पर्श नहीं है, और जिसके जन्म जरा नहीं है, तथा मरण भी नहीं है उसी चिदानन्द शुद्धस्वभाव परमात्मा की निरंजन संज्ञा है, अर्थात् ऐसे परमात्मा को ही निरंजनदेव कहते हैं। निरंजनदेव कैसाहै? जिस सिद्ध परमेष्ठी के गुस्सा नहीं

है, मोह तथा कुल जाति वगैरह आठ तरह का अभिमान नहीं है, जिसके माया व मान कषाय नहीं है, और जिसके ध्यान के स्थान नाभि, हृदय, मस्तक वगैरह नहीं है चित्त के रोकने रूप ध्यान नहीं है, अर्थात् जब चित्त हीं नहीं है तो रोकना किसका हो। ऐसे निजशुद्धात्मा को हे जीव! तू जान। सारांश यह हुआ, कि अपनी प्रसिद्धि महिमा, अपूर्व वस्तु का मिलना, और देखे सुने भोग इनकी इच्छारूप सब विभाव परिणामों को छोड़कर अपने शुद्धात्मा की अनुभूतिस्वरूप निर्विकल्प समाधि में ठहरकर उस शुद्धात्माका अनुभव कर। पुनः वह निरंजन कैसा है—जिसके द्रव्याभावरूप पुण्य नहीं, तथा पाप नहीं है, रागद्वेषरूप खुशी व रंज नहीं हैं, और जिसके क्षुधा वगैरह दोषों में से एक भी दोष नहीं है, वहीं शुद्धात्मा निरंजन है, ऐसा तू जान।

भावार्थ—ऐसे जिन शुद्धात्मा के परिज्ञानरूप वीतरागनिर्विकल्प समाधि में स्थित होकर तू अनुभव कर। इस प्रकार तीन दोहों में जिसका स्वरूप कहा गया है, उसे ही निरंजन जानो, अन्य कोई भी कल्पित निरंजन नहीं है। इन तीनों दोहों में वो निर्मल ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला निरंजन कहा गया है, वही उपादेय है।

नदी में तैरने का विषय जिस मनुष्य का नहीं है ऐसे मनुष्य दूसरों को तैरने का उपदेश देकर उनको कैसे पार करा सकता है। इसी प्रकार विषय, कषाय या प्रमाद आदि से युक्त हमेशा संसार बन्धन में जकड़े हुए मनुष्य दूसरे को संसार से मुक्त होने का उपदेश दे भी दे तो वह निरर्थक होता है। कदाचित् उपदेश दे तो भी वह उनके इष्ट फल सिद्धि के लिये कारण नहीं बनता है क्योंकि, जिस मनुष्य के अपने जीवनकाल में तैरना नहीं सीखा है और तैरने का प्रयत्न भी नहीं किया और कैसे तैरते हैं यह भी नहीं देखा, ऐसा मनुष्य यदि तैरने का उपदेश देदे तो लोगों का उस पर क्या विश्वास होगा क्योंकि तैरने की कला परिपूर्णरूप से नहीं बताने के कारण जनता प्रमाण नहीं मानती है। इसलिये उसका उपेदश नदी पार करने के फल को नहीं दे सकता है। इस उदाहरण से हमें यह समझना चाहिए कि आत्मस्वरूप को जिन्होंने जाना है ऐसा निर्मल बुद्धि वाला मनुष्य ही आत्मा के उपदेश के लिये योग्य होता है। जिन्होंने तिलमात्र भी आत्मस्वरूप को न जानकर अपनी बुद्धि को अत्यन्त

मलिन कर रखा है, ऐसे मनुष्यों का उपदेश विश्वास के योग्य नहीं होता है। विद्वानों की दृष्टि में यह वंचक समझा जाता है। इसलिए जो मनुष्य आत्म विज्ञान का दूसरे को उपदेश करता हो तो उसके लिये सबसे पहले आत्म स्वरूप का परिज्ञान कर लेना उचित है।

दुनिया में नेत्र वाला पुरुष मार्ग को अच्छी तरह से जानने वाला होता है इसलिये वह अन्धे को योग्य स्थान पर पहुँचा देता है परन्तु अन्धे को अन्धा कभी नहीं लेजा सकता क्योंकि अन्धे को मार्ग अपरिमार्ग का ध्यान नहीं है कदाचित् अपने अहाग्रह से या जिद से अन्धा अन्धे को ले जाता है कहीं खड्डे या नाली में उसको गिरा देगा वह स्व और पर दोनों के प्राण न्यौछावर कर देता है।

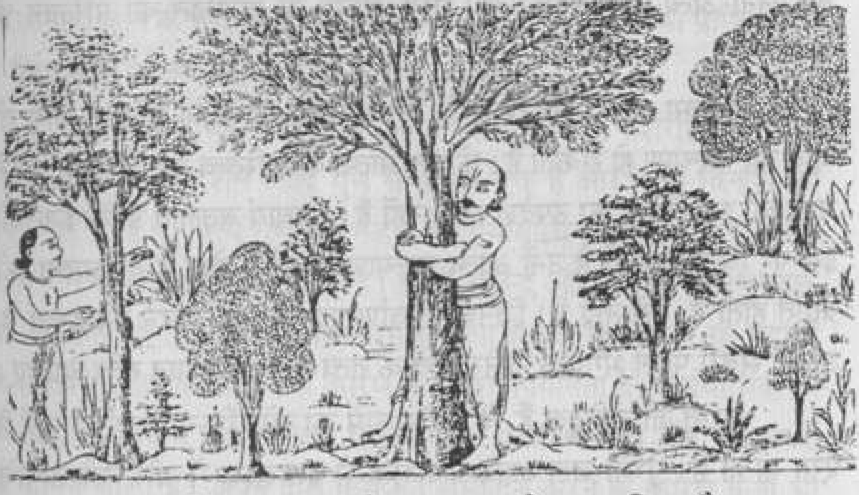

स्वयमेव इस मनुष्य ने इस झाड़ को पकड़ लिया है।
और कहता है इस झाड़ ने मुझे पकड़ लिया है।

इसलिये हे आत्मन्! यदि तू अपने आत्म स्वरूप का जानकार हो जाय तो दूसरे को ज्ञानवान् बनाने में समर्थ होगा।

इसलिये श्री गुरु कहते हैं कि हे भव्य आत्मन्! दूसरे को आत्म प्रति बोध करने से पहले अपने स्वात्म को प्राप्त तो हो जा। अगर तू अपने आत्म स्वरूप को नहीं जानता है तो अज्ञान अवस्था में संसार में चक्र भ्रमण के समान घूमने वाले जीवों को तू क्या ज्ञान दे सकता है। न वे कभी आत्मज्ञान का

उपदेश सुन सकते हैं। जितना उपदेश करते जायँ, उनके लिये वह निष्फल होता है। जिन्होंने आत्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा की है, उनको सबसे पहले अपने आप आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये। वही सांसारिक जीवों को आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए उपदेश दे सकता है अन्यथा नहीं।

जब तक आत्मा को आत्मज्ञान न हो और उसका मार्ग, रूपरेखा जब तक किसी जीव को ठीक समझ में नहीं आवे, तब तक आत्म बोध नामक विज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। आत्म बोध के बिना आत्म कल्याण का साधन कर सिद्ध पद को प्राप्त करने में और दूसरे को आत्म कल्याण के मार्ग में लगाने के लिए वह योग्य नहीं होता है, इसलिए सबसे पहले इसकी जानकारी कर लेना अत्यन्त आवश्यक है। तभी आत्मा के हिताहित का परिज्ञान हो सकता है।

आत्मा और शरीर भिन्न है, अगर किसी को इतना ज्ञान हो जाय तो जीव का कल्याण हो सकता है। केवल आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करने वाले को इस विषय का उपदेश व्यर्थ नहीं है। आचार्य बतलाते हैं कि जिनको इस पर विश्वास नहीं है उन्हें आत्म कल्याण का बोध होता है या आत्मा की प्राप्ति होती है, ऐसे नहीं है। जिनको निर्वाण पद को प्राप्त करने की इच्छा है, उनको सबसे पहले भगवान जिनेन्द्र देव के तत्व में अत्यन्त गाढ़ रुचि चाहिए।

परन्तु जो नास्तिक हैं, वे आत्मा नाम का कोई भिन्न पदार्थ ही नहीं है ऐसा मानते हैं। पृथ्वी जल आदि पंच भूतों से इस लोक में जीव की उत्पत्ति और विनाश होता है इसलिए यहाँ सांसारिक सुख भोगने वाले को स्वर्ग और मोक्ष यहाँ के अतिरिक्त और कहीं नहीं है। इस प्रकार उनके मन में यह धारणा परम्परा से होने कारण वे हमेशा ये ही उपदेश देते हैं–

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

तुम खूब कर्ज लेकर सुख का अनुभव करो। मरना है तो क्यों न खा पीकर मरना चाहिए। ये ही मोक्ष है।

ऐसे लोग आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते हैं। ऐसा कहने से उनको कभी भी मोक्ष की प्राप्ति या संसार से मुक्त होने की सामग्री भी नहीं मिल सकती है। ऐसे लोग हमेशा संसार में भ्रमण करते हैं। अगर हम नास्तिक की बात मान लें तो दीवाल के उस तरफ जो वस्तु है, वह दृष्टिगोचर न होने से असत्य समझी जायगी। इसलिए उस नास्तिक की बातें अज्ञानपूर्ण हैं। अगर कोई मुमुक्षु उन बातों को मान ले तो आत्म उन्नति नहीं कर सकता है। इसलिए आत्म उन्नति करने वाले जीव को ये बातें बाधक हैं। यह समझ कर उसको त्याग करने की आवश्यकता है। तब आत्म प्रबोध नाम के आत्मा के विषय को समझ करके आत्म कल्याण मार्ग में लगना ये ही मुक्तियुक्त है। आत्म परिज्ञान हो जाने के बाद सिद्ध पद को देने वाले आत्म स्वरूप की प्राप्ति करने के लिए उसी आत्म स्वरूप का ध्यान करना चाहिए।

ज्ञानी द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से आत्मा हमेशा नाशरहित है, नित्य आनन्द में है, सम्यग्दर्शन आदि गुण से हमेशा युक्त है और कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता है, नित्य गुण का भंडार है। पर्यायार्थिकनय से हमेशा अदल बदल होने के कारण परिणमनशील है। अपने आनन्द और ज्ञान से स्वानुभवयुक्त ऐसे विज्ञानी लोगों के द्वारा हमेशा समझा हुआ है। अनेक प्रकार के पदार्थों को समझने देखने वाला होने के कारण ज्ञान दर्शनोपयोगता है। पर्यायार्थिकनय से आत्मा की पर्याय सदा बदलती रहती है। इस प्रकार वह स्व और पर पदार्थों को जानने वाला है। अपने द्वारा कर्म का सम्पादन करने के कारण कर्ता भी माना जाता है। कर्म के फल का भोक्ता होता है। और निराकुल अनन्त सुख का भंडारी भी है। इस प्रकार भावना करने वाला अन्तरात्मा संसार में होते हुए भी आत्मा से च्युत नहीं होता है और बाहर दिखने वाले रूपी जड़ पदार्थ में राजी नहीं होता है। ज्ञानी जीव जब आकुलता से रहित आत्मा का परिज्ञान और एकाग्र चित्त होकर अपनी आत्मा का स्वरूप चिन्तवन करता है तब एक दम बाह्य पदार्थ को भूल जाता है।

इस प्रकार की भावना करने वाला परमात्मा बन जाता है, ऐसा समझ लेना चाहिए क्योंकि आत्मा हमेशा द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नित्य है,

निरंजन है, शुद्ध है, बुद्ध है, आठों कर्मों से रहित है, पंचेन्द्रियों से रहित है अनन्तज्ञान का भण्डार है, नित्य है, निराधार है, ऐसा सिद्ध परमात्मा इस नानव शरीर के अन्दर विराजमान है। ऐसी सदा भावना करो। इससे तुझे अखण्ड अविनाशी सुखामृत की प्राप्ति होगी। इसके विपरीत अगर तू भावना करेगा तो फिर संसार मे दीर्घकाल तक पड़ा रहेगा। अब ग्रंथकार पुनः परमात्मा का स्वरूप बतलाते हैं–

संद चिदानन्ददोळ्व नंददे निजगुणदोळोंदि निंदात्मं ता ॥
नोंदेपरमात्म नप्पुदु संदेह में पेळ्मिें दनध्यात्मविदं ॥23॥

अर्थ—सन्तोष से चिदानन्द में मग्न हुआ आत्मा अपने अनन्त ज्ञानादि गुणों में लीन रहता है वही परमात्मा है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इस प्रकार अध्यात्म के ज्ञाताओं ने समझाया है।

आचार्य ने यहाँ परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया है जो ज्ञानी जीव सम्पूर्ण परवस्तु को आत्मा से भिन्न मानकर अपने में रत हो जाता है और जो ज्ञान दर्शनोपयोग में आत्मा की पहचान करता है, वह जीव बाह्य शरीर तथा शरीर सम्बन्धी विषय को हेय मानकर परमात्म स्वरूप में रत रहता है उसको परमात्मा का अनुभव होता है और जीव संसार का परित्याग करके परमात्मा बन जाता है, ऐसे भेद विज्ञानी आत्मा निर्मोही सद्गुरु ने कहा है। मिथ्यात्व रागादि को छोड़ने से निज शुद्धात्म द्रव्य के यथार्थ ज्ञान से जिनका चित्त परिणत हो गया है ऐसे ज्ञानियों को दूसरी कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती है इसलिए उसका मन कभी विषयवासना में नहीं लगता। यह विषय कैसा है? ये विषय कषाय सिद्धात्मा की प्राप्ति के शत्रु हैं। ये भव भ्रमण के कारण हैं। काम भोग रूप पंचेन्द्रियों का विषय मूढ़ जीवों के मन का साधन है। इनमें सम्यग्दृष्टि का मन नहीं लगता। ऐसे सम्यग्दृष्टियों ने वीतराग सहजानन्द अखण्ड सुख में तन्मय परमात्मा तत्व को जान लिया है इसलिये यह निश्चित हुआ कि जो विषय वासना में रत है वह अज्ञानी है और सम्यग्दृष्टि ज्ञानी सदा विषय विकार से विरक्त रहते हैं।

ग्रंथकार कहते हैं कि केवल ज्ञानादि अनन्त गुण युक्त आत्मा को छोड़कर दूसरी वस्तु ज्ञानी के मन में नहीं रुचती। इसका उदहारण है कि

जिसने मरकत मणि रत्न को जान लिया है, उसको कांच से क्या प्रयोजन। इसलिये ज्ञानी संसार के विषय भोग को भोगता हुआ भी उसमें रत नहीं होता है। मोह से भले और बुरे परिणामों को करता है किन्तु अपने आपको उसका कर्ता नहीं मानता। वह केवल कर्म को देखता है इसका सारांश यह है कि वीतराग परम आल्हाद रूप सिद्धात्मा की अनुभूति से जो रागादिक विभाग उनके फल को भोगता हुआ जो अज्ञानी जीव मोह के उदय से हर्ष विषाद भाव करता है, वह नये कर्मका बन्ध करता है अर्थात् वह निज स्वभाव से च्युत हुआ आये हुए कर्मों में रागद्वेष करता है। वह ही नये कर्म को बांधता है परन्तु ज्ञानी कर्म को नहीं बांधता है।

ज्ञानी जीव इस प्रकार विचार करता है कि अनादि काल से उपार्जन किये हुए शुभाशुभ कर्म के निमित्त से आत्मा उसमें परिरमण करते हुए विकारमय बन गया है। वह विकार जड़ वस्तु में है। विकारमय जड़ वस्तु में राग परिणति करने के कारण यह आत्मा अपने आपको रागीद्वेषी मानता है और विकारमय जड़ पदार्थ के साथ विकारी होकर संसार में भ्रमण करता है। अगर सम्पूर्ण वस्तु को आत्मा से भिन्न मानकर विचार किया जाये तो ये आत्मा शुद्ध निरंजन आनन्दमय पर ज्योति स्वरूप है और चिदानन्द है। कुन्दकुन्दाचार्य ने पंचास्ति काय में कहा है कि—

जीवा अणाइणिहणा संता णंता य जीवभावादो।
सब्भावदे अणंता पंचग्गगुणप्पधाणा च॥59॥

जीव अपने जीव सम्बन्धी भावों की अपेक्षा अनादि निधन है, सांत है और अनन्त हैं। इस तरह पाँच मुख्य गुणधारी हैं तथा सत्तापने की अपेक्षा अनन्त है।

विशेषार्थ—यह जीव शुद्ध पारिणामिक परम भाव को ग्रहण करने वाली शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से शुद्ध चैतन्य रूप हैं इससे अनादि अनन्त हैं अर्थात् पारिणामिक भाव सदा बना रहता है और औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इन तीन भावों की अपेक्षा सादि सांत हैं अर्थात् ये तीन भाव कर्मो के उदय, उपशम या क्षयोपशम के द्वारा होते हैं और इष्ट होते हैं तथा क्षायिक

भावों की अपेक्षा सादि अनन्त हैं। क्षायिक भावों को सादि व अनन्त मानना चाहिए क्योंकि वे भाव कर्मों के क्षय के केवल ज्ञानादि रूप से उत्पन्न होकर सदा बने रहते हैं, वे भाव सिद्ध जीव के समान जीव के स्वाभाविक भाव हैं और स्वभाव का कभी नाश नहीं होता है। यद्यपि ये जीव स्वभाव से शुद्ध हैं तथापि व्यवहारनय से अनादिकाल से कर्मबन्ध होने के कारण कर्दम सहित जल की तरह औदायिक आदि भावों में परिणमन करते हुए देखे जाते हैं। इस तरह स्वरूप का व्याख्यान किया गया।

अब असंख्य को कहते हैं कि वे जीव द्रव्य स्वभाव की गणना से अनन्त हैं अर्थात् इनकी संख्या अक्षय अनन्त है। सांत, अनन्त शब्द का दूसरा व्याख्यान करते हैं। जिनका अन्त हो अर्थात् जिनके संसार का अन्त हो सके वे जीव सांत अर्थात् भव्य हैं व जिनके संसार का अन्त न हो सके वे जीव अनन्त अर्थात् अभव्य हैं। अभव्य जीव अनन्त है इनसे भी अनन्त गुणे भव्य हैं, इन अभव्यों से भी अनन्तगुणे अभव्य समान भव्य हैं, जिनका भी संसार अन्त होने का अवसर नहीं आयगा—इस सूत्र का यह तात्पर्य है कि जो भव्य जीव सादि सांत मिथ्यात्व रागादिदोष के त्याग में परिरमन करने वाले हैं, उनको अनादि अनन्त अनन्त ज्ञानादि गुण के धारी शुद्ध जीव ही ग्रहण करने योग्य है।

भावरहित बहिरात्माको आत्मानंद का स्वाद अत्यन्त हेय लगता है और भावलिंगी अन्तरात्मा को आत्मानंद अच्छा लगता है और बाह्य पदार्थ का रस उनको हेय लगता है, ऐसे ग्रंथकार आगे के श्लोक में कहते हैं—

बहिरात्मा भावरहितं स्वहितकरं भव्यनमृतमयनागिर्पा।
सहजात्मननाराधिप महिमं भेदज्ञनंतरात्म कुशलं ॥24॥

अर्थ—भाव रहित बहिरात्मा है। बहिरात्मा हमेशा परवस्तु को अपनी आत्मा मानते हैं और जो अपने अन्दर अमृतमयी के रूप में रहने वाले शुद्धात्म परमात्मा को भजने वाले महान् बुद्धिशाली स्व पर का ज्ञान कर लेते हैं, वे भव्य जीव हैं। इस प्रकार जिनका लक्षण है, वे अन्तरात्मा समझनी चाहिए।

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में बतलाया है कि बहिरात्मा मूढ़ प्राणी हमेशा पर द्रव्य को ही अपनी आत्मा मानता है और जो ज्ञानी भव्यजीव

है वह पर वस्तु से भिन्न अन्तरात्मा में हमेशा रुचि रखते हुए, बाह्य वस्तु रहने पर भी आत्म रुचि से कभी भी विमुख नहीं होता। इसलिये ग्रंथकार ने यह बतलाया है। कि हे अज्ञानी मूढ प्राणी! अनादि काल से बाह्य पंचेन्द्रिय विषय भोगों में जो पर वस्तु है उसी को अपना मानकर तू बहिरात्मा बन गया है। अब तेरे भाग्य से श्री गुरु का समागम हुआ है तथा उनका कल्याणमय उपदेश तूने सुना है। अत: अब तू स्व पर का जानकार बन और बाह्य परद्रव्य से मुँह मोड़कर अपने आत्मा में लीन होजा। अरे अज्ञानी! जैसे किसी ने अपने घर में ही करोड़ों की निधि गाड़ कर रखी हुई है, किन्तु इसका परिज्ञान न होने के कारण भीख माँगने वाला भिखारी बना हुआ है। इसी तरह तू क्षणिक वस्तु की पूर्ति करने के लिए अनेक देश विदेश भ्रमण करता है। अन्त में प्राप्त किये हुए उत्तम मानव पर्याय को छोड़कर अनेक योनियों में भटकता फिरता है। परन्तु इतना होने पर भी तुझे, सुख और शांति न मिल सकी और अनेक निंद्यगति तुझे प्राप्त हुई। हे मूढ़ प्राणी! अब तू बहिरात्म भाव छोड़ दे, अतरात्मा होकर के तू अपने अन्दर ही अपनी खोज कर तब अपने अन्दर ही तू अखंड अविनाशी निजानंद शुद्ध परमात्मा स्वरूप आनंदकंद ऐसे अमृतमयी आत्म स्वरूप को प्राप्त होगा। तू बाह्य आडंम्बरों में जो सुख मान बैठा है, वह सुख क्षणिक है और हमेशा तेरी आत्मा को मलिन करने वाला है। इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि हे योगी! शीघ्र ही पर भाव को त्याग कर निर्मल आत्मानंद के अमृतमयी रस का पान कर। वह अपने अन्दर ही खोज करने से तुझे प्राप्त होगा।

हे योगी! तू जिस शरीर को धारण किये हुए है, उस संपूर्ण शरीर में वह आत्मा सुज्ञान, सुदर्शन, सुख और शक्ति से युक्त है। और वह आत्मा स्वयं निराकर है, निर्भय है, अर्थात् वह आत्मा निराकार होते हुए भी साकार शरीर में प्रविष्ट है। उस आत्माराम का कहाँ तक वर्णन करूँ?

सार परिवार दारा गारघरा पुत्रगात्रममकारा हं।
कारयुतं संसाराधारं बहिरात्मनात्मतत्वविदूरं ॥25॥

अर्थ—सारभूत परिवार स्त्री, गृह, जमीन, पुत्र, शरीर आदि में ममत्व रखने वाले, अहंकारी, हमेशा संसार में भ्रमण करने वाले और आत्म स्वरूप से सदा दूर रहने वाले जीव बहिरात्मा होते हैं।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में बहिरात्मा जीव का स्वरूप बतलाया है। यह बहिरात्मा जीव सदा अपने पंचेन्द्रिय विषय भोगों को बढ़ाने वाले शरीर, पुत्र, धन धान्य आदि के चिन्तन में रत रहता है। ऐसे बहिरात्मा जीव को कभी भी अंतरात्मा की प्राप्ति नहीं होती है। वह हमेशा पर द्रव्य में रत होकर संसार में पंचेन्द्रिय विषय सुख की पूर्ति करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है।

इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि हे भव्यजीव! ब्राह्य पंचेन्द्रिय विषय भोग को चढ़ाने वाला यह पर द्रव्य किसी के साथ आया न गया। केवल इस जीव को दु:ख देने वाला है। कहा भी है कि—

द्रविणपवनप्राध्मातानां सुखं किमिहेक्षते,
किमपि किमयं कामव्याध: खलीकुरुते खल:।
चरणमपि किं स्पृष्टुं शक्ता: पराभवपांशवो,
वदत तपसोप्यन्यन्मान्यं समोहितसाधनम्॥

अर्थ—अहो भव्य जीवो! तुम समझते होंगे कि धन दौलत तथा विषय सेवन सुख के कारण हैं। तप धारण करने वाले को ये छोड़ने पड़ते हैं। इसलिये तप कोई अच्छी चीज नहीं है। तप करना अर्थात् अपने आप न आये हुए दु:खों के बीच आकर फंसना है, न पैदा हुए दु:खों को पैदा करना है, न आने वाले दु:खों को आग्रह करके बुलाना है। तप की तरफ न झुककर यदि विषयसेवन किया जाय तो बड़ा ही आनंद आता है। धन दौलत से विषयों का सुगमता के साथ संग्रह हो सकता है इसलिये धन दौलत भी इकट्ठा करना बहुत जरूरी है।

पर यह तो कहो कि आंधी पवन के जोरदार झकोरे लगने पर जीव इधर-उधर डगमगाने लगता है, तब क्या उसे थोड़ा भी आनंद प्रतीत होता है या

क्लेश? उस अवस्था में आनंद कैसा। अपने संभालने की उलटी चिन्ता पड़ती है, मन स्थिर नहीं रहता। उस समय यह विचार होने लगता है कि मैं कहीं गिर न जाऊँ, इसमें कैसे संभलना होगा? इत्यादि। इस तरह की जब मन में चिन्ता लग जाती है तो सुख कैसा? वहाँ तो अपने को संभालते संभालते बेजार होना पड़ता है। बस, यही हालत धन-दौलत की है। जो इसके चक्कर में पड़ जाता हे। वह अपने को संभालते-संभालते बेजार हो जाता है। वहाँ क्या थोड़ा सा भी सुख किसी को दीख पड़ता है? नहीं। तो फिर धन-दौलत में आनंद क्या रहा? रहाविषय सेवन, पर यह भी एक व्याध के समान अत्यंत दुष्ट है। व्याध जिस प्रकार पक्षियों को अपने जाल में फंसा लेता है और उन्हें परतत्र बांधकर रखता है, कभी-कभी मार भी डालता है। इसी प्रकार विषय भी जीवों को फंसाते हैं और फिर अपने चंगुल में आये हुए उन जीवों को कभी निकलने नहीं देते, सदा उसी फंदे के पराधीन रखते हैं, कभी-कभी उन्हें मार भी डालते हैं। विषयों में अति लुब्ध हुआ प्राणी अंत में उन्हीं में फंसकर प्राण गंवाता है। काम की दु:खमयी अनेक अवस्थाओं में अंत की मरण अवस्था ही है। काम-भोग का वियोग होने पर अति लुब्ध हुआ प्राणी अति विचार कर संताप उत्पन्न कर शरीर को सुखा देता है और कालान्तर में कदाचित् तीव्र आर्तध्यान के वश होकर या तीव्र वेदना बढ़ने पर अपने प्राण पखेरूओं को शरीर में रोक नहीं सकता। काम के संयोग से शरीर क्षीण होने से प्राणान्त होने की बारी आती है और वियोग में संताप वेदना बढ़ने से मरण तक होता है। इसलिये विषयों की लालसा हर हालत में दु:खदायक है। इसके सतत संयोग रखने की इच्छा से जीव नौकरी सेवा आदि अनेक प्रकार के अपमान दु:ख सहते हैं।

क्या ये सब दु:ख सर्व विषयों को छोड़कर तपश्चरण में रत होने वाले को होते हैं? नहीं। तप तो इसलिये किया जाता है कि शरीर से स्नेह टूट जाय और आत्मतत्व की सच्ची पहिचान तथा प्राप्ति हो। कामादि विकार बढ़ाने वाले शरीर और मन की दुष्ट भावना है। काय क्लेशादि तपों द्वारा जब शरीर सूख जाएगा तो कामादि विकारों को उत्पन्न नहीं कर सकेगा। आत्म चिंतन-ध्यान द्वारा जब मन पवित्र विचारों में लग जायगा तो उसमें गंदे विचार नहीं

उठेंगे किन्तु धीरे-धीरे आत्म-तत्त्व के ज्ञानानंदमय स्वभाव को प्राप्त कर लेने से काम भोगादि संबंधी, उपर्युक्त सभी दु:ख दूर हो जायेंगे। अब कहिये, तपश्चरण से अधिक और भी कोई परम इष्ट सुखका साधक हो सकता है? क्या तपस्वी के चरणों तक भी, संसारी जीवों को पद-पद पर होने वाली अपमानादि रज पहुँच सकती है? जो विषयाधीन होकर उनके पोषणार्थ पर का आश्रय करे उसको ये सब दु:ख होते हैं, तपस्वी को इनसे क्या काम हैं? अब कहिये, तप अच्छा है या विषयभोग? अथवा, यों कहिये कि चारित्र तथा तप आदि धारण करने वाला विषय तथा संसार में से इतना दूर रहता है कि उसे कभी अपमानादि दु:ख रज का स्पर्श तक नहीं हो पाता। इसीलिये ग्रंथकर्ता यह पूछते हैं कि, अपमानादि धूल चारित्र को कभी छू भी सकती है क्या? नहीं। पर चारित्र न धारण करने वाले विषयाधीन जन तो उस धूल से सदा धूसरित बने ही रहते हैं। जग में अपमानादिक ही तो बड़े दु:ख हैं जो कि विषयासक्त का पीछा कभी नहीं छोड़ते, पर ये तपस्वी के पास तक भी नहीं फटक पाते। इसलिये तप दु:ख नाश का और सुख प्राप्ति का मूल कारण मानना ही चाहिये।

हे योगी। शुद्ध निरंजन निर्विकार रूप ज्ञानदर्शन उपयोग मय आत्मा हमेशा शुद्ध होने पर भी पर वस्तु के निमित्त से वह अशुद्ध बनकर परद्रव्य के अनुसार परिवर्तन करता है। जैसे एक उदाहरण है कि बगुलों के समुदाय में एक हंस का बच्चा आ गया। उनमें मिल जाने से उन्हीं बगुलों के समान उसके आचरण विचार होने लगे। उस बच्चे को अपनी जात, गोत्र, खान पान का भान भी नहीं रहा। इसलिये वह बच्चा यही समझ गया कि ये बगुला ही मेरे रिश्तेदार है ओर मैंने इन बगुलों से ही जन्म लिया है। दूसरे मेरे कोई भी नहीं। इस प्रकार गलत धारण उस के अन्दर बैठ गई। एक दिन उसकी जाति का एक हंस भ्रमण करते 2 वहाँ आया। उसने देखा कि अपनी जाति का एक हंस का बच्चा बगुलों के साथ भ्रमण कर रहा है। तब व्यत ही उसने उस हंस के बच्चे से पूछा—अरे तू हंस होते हुए, हमारी जाति का होते हुए तू बगुलों के झुंड में, यह कितने आश्चर्य की बात है। तेरी जाति, स्थान और आचरण सभी भिन्न हैं, तू हमेशा मोती चुगने वाला है। परन्तु बगुलों की संगति से तू कीड़ा,

मकोड़ा खाकर उनके साथ भ्रमण कर रहा है। देख, तू विचार करके देख, तू कौन है, तेरा स्वरूप क्या है, तेरा खाद्य क्या है? यह सब विचार न करते हुए बगुलों की संगति में बगुला बन गया है यह कितने आश्चर्य की बात है। अरे भाई तू कहाँ से आकर इस झुंड में मिल गया है। तेरे आचरण बगुलों के माफिक ही मालूम हो रहे हैं। तू अब तो मेरी तरफ देख, मेरे सम्मुख होजा। तेरे और मेरे में क्या अन्तर है। बगुलों के झुंड की तरफ से दृष्टि हटाकर मेरी तरफ देख, तब तुझे मालूम होगा। तब उसे मालूम हुआ कि बगुलों की जो पंक्ति है, वह मेरी जाति की नहीं है। वह मेरे से भिन्न है। तब हंस पक्षी के कहने से बगुलों के साथ रहे हुए हंस ने उस हंस की तरफ देखा तब मालूम पड़ा कि अज्ञान से जिसकी उसने संगति की वे बगुले हैं और मेरे स्वरूप के नहीं है। मुझे आज तक यह ज्ञान नहीं था कि मेरा स्वरूप अलग है, बगुलों का स्वरूप अलग है। मैं यही समझता था कि मेरा रंग भी सफेद है, उनका रंग भी सफेद हैं। इस प्रकार स्व और पर का ज्ञान होने के पश्चात् अब गलती समझ में आ गई। अब वह अपने आपको समझ गया कि मैं बगुला नहीं हूँ, मैं हंस हूँ। अब मुझे बगुलों का संग करना भी नहीं और उस तरफ देखना भी नहीं। जब वह जाने लगा तो बगुलों ने समझाया कि हमारा भाई होकर कहाँ जा रहा है। इस प्रकार उसे बहुत मोह में डालना चाहा। लेकिन जब उसको ठीक प्रकार से प्रतीति हो गई कि मैं हंस हूँ, बगुला नहीं हूँ तब वह अपने भाई के साथ जाने के लिये तैयार हो गया। इसी प्रकार जब तक इस जीव को सत्यासत्य का ठीक निर्णय नहीं होता है तब तक जीव सत्य को असत्य मानकर संसार में परिभ्रमण करता है, और बहिरात्मा जीव बनकर संसार में अनेक प्रकार के दुःख उठाता है। जैसे वह हंस पक्षी मोती चुगने वाले अपने भाई के साथ जाकर वह भी मोती चुगने लगा। इसी तरह हे भाग्यशाली! यह आत्मा अनादिकाल से दुनियादारी के नाते जोड़कर अपने को भूल में डालकर इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है। विचार करके देखा जाय दुनिया की जितनी भी वस्तु हैं वे अपनी नहीं। उससे भिन्न शुद्ध निरंजन निर्मल अमृत अनंतज्ञान, अनंतशक्ति का धारक यह आत्मा है। इस प्रकार जब तक तू ठीक नहीं जानेगा, तब तक तू अपना स्वरूप नहीं जान सकता है। किन्तु अज्ञानता के कारण दुनियादारी में फंसा हुआ है। इसके निमित्त से शरीर को धारण किया

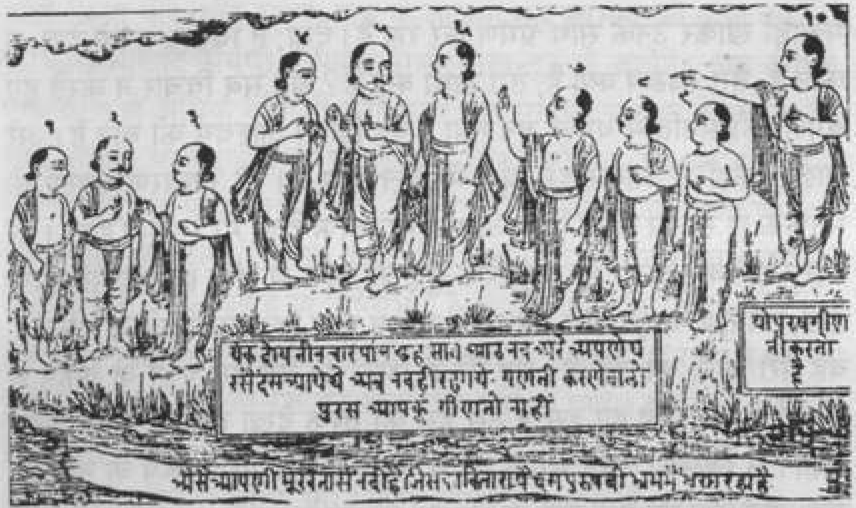

१०
एक दोय तीन चार पांच छह सात आठ नव दश ग्यारे आपलोप
रसींदसच्यापेथे आन नवढ़ी रहगये गणनी करणेवालो
पुरस आपकूं गीणनो नाहीं
योपुरुषगीण
नो कूलना
है
भैसेंआपणी पूरणनासैं नदीहैं जिसराकिनारापै दशपुरुषकी भ्रमभ्रमकररह्याहै

गया है। इस शरीर से ममत्व के कारण आत्मा अपने को दुःखी और सुखी इस शरीर को अपना मान रहा है और हमेशा उसकी रक्षा करने के लिये प्रयत्नशील रहता है। कहीं यह शरीर बिगड़ न जाय। अतः उसकी रक्षा करने के लिए लाखों उपाय करता है। इसलिये सद्गुरु कहते हैं कि हे आत्मन्! तू जिस शरीर को अपना मानकर जब तक इसके पीछे रहेगा, तब तक सुख और शांति नहीं मिलेगी। सद्गुरु कहते है कि तू दुनियादारी के बगुलों के झुंड में शामिल होकर उनकी तरह आचरण कर रहा है, किन्तु तू निरंजन नित्य हंस रूप है। देख, मेरी तरफ देख, और तेरी जाति देख, रूप देख, अपने गुणों की तरफ देख, आचरण की तरफ देख, रंग देख, उसकी नीति को देख, तब तुझे ठीक ज्ञान होगा। परन्तु अज्ञानी जीव गुरु के समझने पर भी इसका त्याग करने की इच्छा नहीं। यह कितने आश्चर्य की बात है।

मन्ननें गारिप मुनिपं बन्नमनिर बेंय्दि कणल्दु कालकनक्कु।
मुन्निन कर्म मनरियदे बन्नं संसार जलधियोळ्मुळुगिकुं ॥26॥

अर्थ—पूजा, ख्याति, सत्कार की इच्छा करने वाले मुनिराज अत्यंत क्रोध के आधीन होते हैं। फिर इस क्रोध के कारण अनंत संसार के दुःख के आधीन होते हैं। वे पूर्व में उपार्जन किये हुए कर्म के कारण भवसमुद्र में सदा डूबते रहते हैं॥26॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में योगी को सम्बोधन करते हुए कहा है कि हे योगी! अगर तू अपने आत्मा की पहिचान करना चाहता है, या सिद्धात्मपद की प्राप्ति करना चाहता है तो तू लाभ ख्याति, पूजा, सत्कार आदि का त्याग कर दे। जब तक तेरे मन में लाभ, ख्याति, और पूजा आदि की लालसा रहेगी, तब तक तुझे आत्मा की प्राप्ति न होकर दुर्गति का बन्ध होता रहेगा। फिर तुझे संसार चक्र में भ्रमण करके अनेक दु:ख उठाने पड़ेगे। इसलिये तू बाह्य लाभ ख्याति पूजा आदि की लालसा को त्याग कर अपने अन्दर अनादिकाल से छिपे हुए अंतरात्मा के सन्मुख होजा। इस संसार तथा संसार सम्बन्धी पर पदार्थों का त्याग कर आत्म सम्मुख होना ही अपने लिये श्रेष्ठ है। कहा भी है कि—

कीर्तिपूजाभिमानार्तैर्लोकयात्रानुरञ्जितैः।
बोधचक्षुर्विलुप्तं यैस्तेषां ध्याने न योग्यता॥

अर्थ—जो मुनि कीर्ति प्रतिष्ठा और अभिमान के अर्थ में आसक्त हैं, दु:खित हैं तथा लोकयात्रा से प्रसन्न होते हैं अर्थात् हमारे पास बहुत से लोग आवें जावें और हमको मानें जो ऐसी वांछा रखते हैं, उन्होंने अपने ज्ञानरूपी नेत्र को नष्ट किया है। ऐसे मुनियों के ध्यान की योग्यता नहीं हो सकती है।

अन्तः करणशुद्‌यर्थ मिथ्यात्वविषमुद्धतम्।
निस्यूतं यैर्न निःशेषं न तैस्तत्वं प्रमीयते॥

अर्थ—जिन मुनियों ने अपने अन्त:करण की शुद्धता के लिये उत्कृष्ट मिथ्यात्वरूपी समस्त विष नहीं वमन किया (नहीं उगला) वे तत्वों को प्रमाण रूप नहीं जान सकते हैं क्योंकि मिथ्यात्वरूपी विष ऐसा प्रबल है कि, इसका लेशमात्र भी हृदय में रहे, तो तत्वार्थ का ज्ञान श्रद्धान प्रमाणरूप नहीं होता, तब ऐसी अवस्था में ध्यान की योग्यता कहाँ?

दु:षमत्वादयः कालाः कार्यसिद्धेर्न साधकम्।
इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषां कैश्चिद्ध्यानं निषिध्यते॥

अर्थ—कोई-2 साधु ऐसा कहकर अपने तथा पर के ध्यान का निषेध करते हैं कि, यह काल दु:षमा (पंचम) है। इस प्रकार कहने वाले के ध्यान कैसे हो?

संदिग्धते मतिस्तत्वे यस्य कामार्थलालसा।
विप्रलुब्धान्यसिद्धान्तैः स कथं ध्यातुमर्हति॥

अर्थ—जिसकी बुद्धि अन्यमत के शास्त्रों से ठगी हुई है तथा जो काम और अर्थ में लुब्ध होकर वस्तु के यथार्थ स्वरूप में संदिग्धरूप (संदेहसहित) है वह ध्यान करने का पात्र कैसे हो? क्योंकि जब तक तत्वों में (वस्तुस्वरूप में) संदेह होता है, तब तक मन निश्चल नहीं हो सकता और जब मन ही निश्चल नहीं, तब ध्यान कैसे हो?

निसर्गचपलं चेतो नास्तिकैर्विप्रतारितम्।
स्याद्यस्य स कथं ध्यानपरीक्षायां क्षमो भवेत्॥

अर्थ—एक तो मन स्वभाव ही से चंचल है, तिस पर भी जिसका मन नास्तिकवादियों द्वारा वंचित किया गया हो, वह मुनि ध्यान की परीक्षा में कैसे समर्थ हो सकता है। अर्थात् नहीं हो समता, क्योंकि नास्तिकमती खोटी-2 युक्तियों से आत्मा का नाश ही सिद्ध करते हैं। उनकी कुमुक्तियों में जिसका मन फंस जाता है, उसके ध्यान की योग्यता कहाँ से हो सकती है?

अपने आपको न ढूंढकर मूढ़ जीव अपने आपको पर वस्तु में ढूंढ़ता है ऐसा आगे के श्लोक में कहते हैं—

मतं तन्निं तन्नोळ् पत्तदे पोर मोरगे मोच्चि बहिरंगदोळं।
पत्ति बहिरात्मनक्कट, पत्तदे माण्दप ने मिथ्येयेडेयोळ्गनिशं॥27॥

अर्थ—यह बहिरात्मा जीव अपने में आसक्त न होकर बाह्य वस्तुओं में ही अत्यंत रत रहता है और सदा मिथ्यात्व में ही चिपका रहता है, जैसे गाय के स्तन पर रहने वाली चीचड़ी हमेशा खून ही पीती हैं परन्तु खून के पास दूधा होने पर भी दूध का स्वाद जिन्दगी भर अनुभव नहीं किया। इसी तरह यह अज्ञानी बहिरात्मा जीव शरीर में आसक्त रहता है और उसके अन्दर रहने वाले अनन्त सुख के भण्डार आत्मा का कभी अनुभव नहीं करता। यह कितने आश्चर्य की बात है? सचमुच में यह मूढ़ प्राणी अंत में इस शरीर का त्याग करने पर महान नरकादि दुर्गति को प्राप्त होता है और वहाँ के दुःखों का अनुभव करता है।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में बाह्य विषयों और पदार्थों के त्याग का उपदेश दिया है। जब तक बाह्य वस्तु में यह जीव आसक्त है तब तक अपने आत्मा का अनुभव नहीं कर सकता है क्योंकि बाह्य पदार्थ के साथ

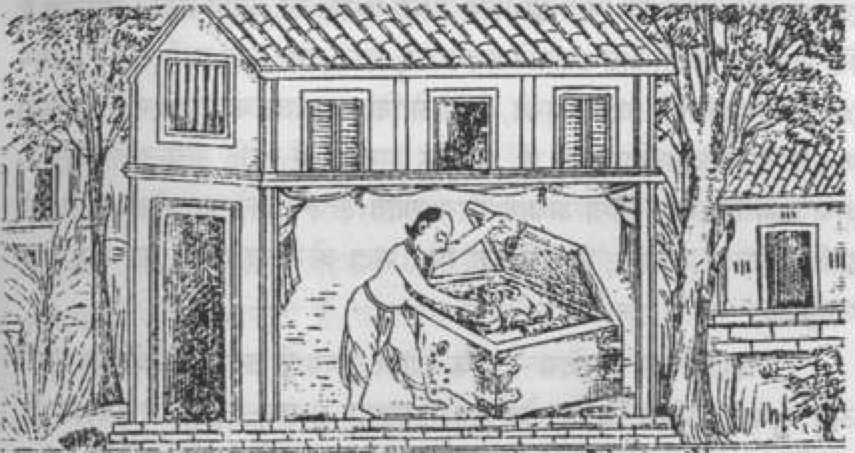

इसके कंठमैंनो मोतीकी मालहै वहढूंरिहेगाकर्ताहै· भंडारमैं

रागद्वेष के निमित्त यह आत्मा अनादि काल से चिपटी हुई है। इसलिए योगी को सम्बोधन करते हुए आचार्य ने कहा हैं कि हे योगी! अगर तू संसार के बन्धन से शीघ्र छुटकारा चाहता है तो बाह्य पदार्थ की आसक्ति को छोड़। कहा भी है कि—

संकल्प्येदमनिष्टमिष्टमिदमित्यज्ञातयाथात्मको,
बाह्ये वस्तुनि किं वृथैव गमयस्यासज्य कालं मुहुः।
अन्तःशान्तिमुपैहि यावदुदयप्राप्तान्तक प्रस्फुरज्
ज्वालाभीषण जाठरानलमुखे भस्मीभवेन्नो भवान्॥

अर्थ—अरे भव्य तू, वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप नहीं समझता। इसीलिए स्त्री पुत्रादि इतर वस्तुओं में मोहित होकर स्त्री पुत्रादि या रत्न सुवर्णादि को हितकारी समझता है, शत्रु सर्प विषादि को अहितकर्ता समझता है। पर ऐसा मानकर क्यों काल को यों ही गमाता है? ऐसी कल्पना तेरी तभी तक होती हैं जब तक कि तू असली आत्मीय शांति को प्राप्त नहीं हुआ। ये तेरी

सभी कल्पनाएं झूठी हैं, क्योंकि, अन्य पदार्थों में तुझे सुख-दुख देने की शक्ति नहीं है? जो कुछ सुख दु:ख होते तुझे दिखते हैं वे तेरी ही संकल्पवासना के फल हैं। देख, इधर तो तू यों ही फंसा रहेगा किन्तु काल किसी समय आकर अचानक ही तुझे दबा लेगा इसलिये उससे बचने का उपाय देख। वह यह है कि जब तक, चाहे जब आजाने पड़कर तू भस्म नही हुआ तभी तक तू अपने अंत:करण को पूर्ण शांत कर ले, जिस से कि उसकाल का आक्रमण आगामी भव के लिये दु:खदायक न हो, क्योंकि अन्तरंग में शांति उत्पन्न हो जाने से शुभ कर्म का बन्ध होगा अथवा परम शांति उत्पन्न होने पर मोक्ष-सुख की प्राप्ति भी. हो सकेगी, जिससे कि फिर सदा के लिए काल का भय मिट जाएगा।

यद्यपि पाप के उदय ने नरक-योनि, पुण्य के उदय से देवों का शरीर और शुभाशुभ मिश्र से नर-देह तथ मायाचार से पशु का शरीर मिलता है, अर्थात् इन शरीरों के भेदों से जीवों की अनेक चेष्टाऐं देखी जाती हैं, परन्तु दर्शन ज्ञान लक्षणसे सब तुल्य हैं। उपयोग लक्षण के बिना कोई जीव नहीं है इसलिए ज्ञानीजन सबको समान जानते हैं। निश्चयनय से दर्शन ज्ञान चारित्र जीवों के लक्षण हैं, ऐसा जानकर ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र चांडालादि देह से भेद देखकर रागद्वेष नहीं करना चाहिए। सब जीवों से मैत्रीभाव करना चाहिए।

हे योगी! अपने मन में यह विचार करो कि जीवों के शरीर में बाल वृद्धावस्था आदि कर्मों से होती है। चतुर्गति औरउनमें प्राप्त होने वाला शरीर भी पूर्वकृत कर्मों के कारण मिलते हैं। ये अवस्थाएँ कर्म जनित हैं, जीव की नहीं। फिर तू इन शरीरादि में मोह क्यों करता है। यह सभी जीव द्रव्य प्रमाण से अनन्त हैं। क्षेत्र की अपेक्षा व्यवहारनय से अपने मिले हुए देह के प्रमाण है तो भी निश्चयनय से लोक प्रमाण असंख्य हैं। सब लोक में सब काल में जीवों का यही स्वरूप जानना। बादर सूक्ष्मादि भेद कर्मजनित हैं। यह समझकर जीव में भेद करो। सभी जीव ज्ञानदर्शन स्वरूप हैं। चैतन्य स्वरूप हैं। किन्तु कर्मों के कारण अनेक पर्याय धारण किये हुए हैं। मेरी आत्मा भी अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रही है। अत: तू स्व पर का ज्ञानी होकर परवस्तु से भिन्न अपने स्वभाव का चिन्तन कर। संसार का अन्त करना यही सुख का

मार्ग है। इसलिए हे योगी! निज शुद्धात्मा के ध्यान से निज शुद्धात्मतत्व से विपरीत मोह छोड़। जिस मोह से अथवा मोह करने वाले पदार्थ से कषाय रहित परमात्म स्वरूप ज्ञानानन्द स्वभाव के विनाशक क्रोधादि कषाय होते हैं, उन्हीं से संसार है। इस मोह कषाय का अभाव होने पर रागादि रहित निर्मल ज्ञान को तू पा सकेगा। वह वस्तु मन वचन काय से छोड़नी चाहिए, जिससे कषायरूपी अग्नि उत्पन्न न हो, तथा उस वस्तु को अंगीकार करना चाहिए, जिससे कषाय शांत हो। तात्पर्य यह है, कि विषयादिक सब सामग्री और मिथ्यादृष्टि पापियों का संग सब तरह से मोह कषाय को उपजाते हैं, इससे ही मन में कषायरूपी अग्नि दहकती रहती है। सत्संगति तथा शुभ सामग्री (कारण) कषायों को उपशमाती है, कषायरूपी अग्नि को बुझाती है, इसलिए उस संगति वगैरह को अंगीकार करना चाहिए। कहाँ भी हैं कि–

प्रयासैः फल्गभिर्मूढ़ किमात्मा दण्डयतेऽधिकम्।
शक्यते न हि चेच्चेतः कर्तु रागादिर्वाजतम्॥

अर्थ–हे मूढ़ प्राणी! जो अपने चित्त को रागादिक से रहित करने को समर्थ नहीं है तो व्यर्थ ही अन्य क्लेशों से आत्मा की दंड क्यों देता है? क्योंकि रागादिक के मिटे बिना अन्य खेद करना निष्फल है।

क्षीणरागं च्युतद्वेषं ध्वस्तमोहं सुसंवृतम्।
यदि चेतः समापन्नं तदा सिद्धं समोहितम्॥

अर्थ–क्षीण डुआ है राग जिसमें और च्युत हुआ है द्वेष जिसमें तथा नष्ट हुआ है मोह जिसमे ऐसा जो मन सवंरता को प्राप्त है तो वांछित सिद्धि है। चित्त से द्वेष और मोह तो नष्ट हो और रागादिक क्षीण हों तथा अपना स्वरूप साधने में राग रहे तो सर्व मनोवांछित सिद्ध होते हैं।

मोहपंके परिक्षोणे प्रशान्ते रागाविभ्रमे।
पश्यन्ति यमिनः स्वस्मिन्त्वरूपं परमात्मनः॥

अर्थ–मोहरूपी कर्दम के क्षीण होने पर तथा रागादिक परिणामों के प्रशान्त होने पर योगीगण अपने में ही परमात्मा के स्वरूप का अवलोकन और अनुभव करते हैं।

महाप्रशमसंग्रामे शिव श्रीसंगमोत्सुकैः।
योगिभिर्ज्ञनिशस्त्रेण रागम्लो निपातितः॥

अर्थ—मुक्ति रूपी लक्ष्मी के संग की वांछा करने वाले योगीश्वरों ने महा प्रशमरूपी संग्राम में ज्ञानरूपी शस्त्र से रागरूपी मल्ल को निपातन किया क्योंकि इसके हंते बिना मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति नहीं है।

असंक्लिष्टमविभ्रान्तमविप्लुतमनाकुलम्।
स्ववशं च मनः कृत्वा वस्तुतत्वं निरूपय॥

अर्थ—हे आत्मन्! अपने मन को संक्लेश, भ्रान्ति और रागादिक विकारों से रहित करके अपने मन को वशीभूत कर तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को अवलोकन कर।

रागाद्यभिहतं चेतः स्वतत्वविमुखं भवेत्।
ततः प्रच्येवते क्षिप्रं ज्ञानतत्वादिमस्तकात्॥

अर्थ—जो चित्त रागादिक से पीड़ित होता है यह स्वतत्व से विमुख हो जाता है इसी कारण ही मनुष्य ज्ञानरूपी रत्नमय पर्वत से च्युत हो जाता है।

रागद्वेषभ्रमाभावे मुक्तिमार्गः स्थिरीभवेत्।
संयमी जन्मकान्तारसंक्रमक्लेशशंकितः॥

अर्थ—संसाररूपी वन में भ्रमण के क्लेशों से भयभीत संयमी मुनि रागद्वेष मोह के अभाव होने से ही मोक्षमार्ग में स्थित होता है। रागद्वेष मोह के विद्यमान रहते मोक्षमार्ग में स्थिरता नहीं होती।

आचार्य कहते हैं कि यह जो मन है, वह रागादि से बार-बार वंचित हुआ है। जब तक मन में रागद्वेष रहता है तब तक परमात्मा का स्वरूप नहीं रहता रागद्वेष के लुप्त होने पर ही शुभाशुभ को समाप्त करने वाले परमात्मा की प्राप्ति होती है। इसलिये हे योगी! तू इस बात को भली प्रकार समझ कर बाह्य प्रकार रागद्वेष को दूर कर केवल अपनी आत्मा का अवलम्बन लेकर उसी आत्मबल से मोहादि जनित पर वस्तु को हटाकर तू इस संसार के बन्धन से मुक्त हो जा। यह उपदेश है।

आत्म परिज्ञान बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं।

अरियदे निज भावने यं परिपडिसल्कघमनखिलतनुदंडनेयिं।
उरे ने गळ्व तपासिनंदं लरगेलेयं पोसेदु रसमनरपंतक्कुं ॥28॥

अर्थ–हे मूर्ख प्राणी! अपनी आत्मा को अपने द्वारा किस तरह भावना चाहिये इसका परिज्ञान न होने के कारण तू केवल एंकातवाद को पकड़ कर बैठा है। जो दु:ष्कृत्य को बढ़ाने वाले परद्रव्य को ही प्रतिदिन ध्यान करके अपनी आत्मा को दुर्गति की तरफ ले जाने का प्रयास किया और इससे निरंतर संसार में अपने आप को रुलाया और तेरे समान मूर्ख कौन होगा? जैसे कोई मूर्ख मानव सूखे हुए पेड़ को पानी डालकर फल की इच्छा करता है, उसी तरह तू केवल अचेतन पर पदार्थ की भावना या ध्यान करके मोक्ष फल की प्राप्ति करना चाहता है या जैसे कोई सूखे पत्ते को इकट्ठा करने उसको निचोड़ करके रस निकालना चाहता है। क्या कोई बकरी के गले में लटकने वाले स्तन के सदृश दिखने वाले स्तन को वास्तविक स्तन समझ कर उसमें से दूध निकाल सकता है? इस तरह हे मूर्ख प्राणी तू भगवान वीतराग देव के कहे हुए अनेकांत मार्ग को न समझ कर जड़ को ही अपनी आत्मा मानकर बहिरात्मा बन गया है। अब भगवान वीतराग-देव के अनेकांत धर्म को ठीक न समझ कर और स्व पर का ज्ञान किये बिना इस आत्मा को संसार रूपी कीचड़ से उठाकर निरावाद्य स्थान में रख नहीं सकते। इसलिये हे भव्य जीव! अगर तुझे शीघ्र ही संसार से मुक्त होना है तो पर का मोह त्याग कर शीघ्र शुद्ध निरंजन आत्मा के स्वरूप के सम्मुख हो जा।

विवेचन–इस श्लोक में आचार्य ने यह प्रतिपादन किया है कि जैसे चूहा दिन छिपते ही धान प्राप्त करने के लिए मिट्टी खोद कर ढेर लगते हैं परन्तु उस मिट्टी में धान का एक भी कण प्राप्त नहीं होता। किन्तु अन्न की आशा में मिट्टी खोदता जाता है और उसके अन्दर अनाज के कण को ढूँढ़ता है। जब प्रभात होता है तो वह थोड़ी सी भी आवाज सुनकर तुरंत ही भाग जाता है। यही हाल तेरा भी है। तू अनादि काल से विषय वासना रूपी कण के लिये क्षणिक पर पदार्थ में उसी विषयवासना के कण का अन्वेषण करता हुआ

अनेक बार जन्म और मरण का भोग भोगता रहा है किन्तु तुझे सुख और शान्ति आज तक प्राप्त नहीं हुई। जिस प्रकार धान को कूटकर या निकाले हुए भूसे के ढ़ेर को फिर कूट करके उसमें से चावल प्राप्त करना चाहता है परन्तु इतने प्रयास करने पर भी उसमें से चावल की प्राप्ति नहीं होती और सारा प्रयास व्यर्थ जाता है। इसी तरह तू निस्सार पर पदार्थ में सुखमय विशुद्ध आत्मा की प्राप्ति करना चाहता है किन्तु आज तक किसी को न मिला है न मिलने की उम्मीद है।

आत्मतत्वानंभिज्ञस्य न स्यादात्मन्ववास्थिति:।
मुह्य त्यंत पृथक् कर्त स्वरूपं देह दाहिनो:॥

आचार्य ने बतलाया है कि आत्मा तत्व के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानने वाले पुरुष के आत्मा में निश्चयपूर्वक ठहरना नहीं होता, और अंतरंग में शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न करने और समझने में मोह को प्राप्त होकर भूल जाता है कि इस देह में द्रव्य इंद्रिय, भाव इन्द्रिय, द्रव्य मन, भाव मन, दर्शन, ज्ञान, सुख, क्रोध, मान, माया और लोभ रागद्वेष अज्ञानादि जो अनेक भाव दीखते हैं, इनमें से आत्मा कौन सी है? इस प्रकार भ्रम उत्पन्न होता है। इसलिये पहले आत्मा का अनेक नये मार्गों द्वारा निश्चय कर लेना चाहिये।

उस देह और आत्मा के भेद विज्ञान के बिना आत्मा का लाभ नहीं होता है। और आत्मा के लाभ बिना भेद विज्ञान स्वप्न में भी दुर्लभ हैं ॥2॥

तयोर्भेदापरिज्ञानान्नात्मलाभः प्रजायते।
तदभावात्स्वविज्ञानसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥29॥

अर्थ—इसलिये सबसे पहले मोक्षाभिलाषियों को समस्त पर द्रव्यों की पर्याय से रहित आत्मा का ही निश्चय करना चाहिये ॥3॥

वह आत्मा समस्त देहधारियों में बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा के भेद से तीन प्रकार से व्यवस्थित है। इसलिये तू बहिरात्मा को छोड़कर अंतरात्मा का ध्यान कर। यह आत्मा में कर्म रूपी विकार नहीं है, वह सिद्धरूप है, अत्यंत निवृत्त है, अविनाशी सुखरूप हैं निर्विकल्प है और शुद्धात्मा है।

प्रश्न है कि यदि आत्मा ऐसी है तो आत्मा को देहादिक पदार्थों के

समूह से पृथक् करके निर्विकल्प अतींद्रिय ऐसा किस प्रकार ध्यान करें ?

इसका उत्तर यह है कि–जो बहिरात्मा है, वह चैतन्य स्वरूप आत्मा को देह के साथ संयोजन करता है अर्थात् एक समझता है और ज्ञानी है वह देह से देही को पृथक देखता है। यही बहिरात्मा और अंतरात्मा के ज्ञान का भेद है ऐसा समझना चाहिये।

पानी मथने से मक्खन नहीं निकलता है ऐसे आगे के श्लोक में कहा हैं कि–

सारतरमेंनसिदात्मा कारद भावने पनुळ्दिु पर भावने यिं।
सारता सुख मनरिपड़े नीरं कडे दल्लि वेष्णोयर पंतषकुं॥

अर्थ–अत्यन्त सारभूत आत्मा की भावना को छोड़कर परवस्तु की भावना से अत्यन्त सारगर्भित सुख को अगर ढूँढ़ना है तो समझना चाहिये कि पानी को मंथन करके मक्खन निकालना चाहता है।

विवेचन–ग्रंथकार ने इस श्लोक में इस प्रकार दर्शाया है कि यह संसारी मूढ़ जीव अपने शरीर के आकार होकर रहने वाले सारभूत आत्मा का स्वरूप नहीं जानता और उसको छोड़कर अपनी आत्मा से भिन्न परवस्तु की भावना करके, परवस्तु के अन्दर ही सारभूत ऐसी आत्मा सुख को प्राप्त करना चाहता है। कोई मूर्ख मनुष्य पानी का मंथन करके उसमें से मक्खन निकालने की चेष्टा करता हो। कहा भी है कि–

सुखाय दुःखानि गुणाय दोषान्धर्माय पापानि समाचरन्ति।
तैलाय बालाः सिकतासमूहं निपीडयंतिं स्फटुमत्वदीयाः॥

सुख के लिये यह सांसारिक प्राणी दुःख की आराधना करता है। पुण्य के लिये अनेक दोषों की आराधना करता है। धर्म के लिये पाप की आराधना करता है। तेल के लिये बालू को पेलता है।

जब तक बाह्य वस्तु के प्रति मन लगा रहेगा तब तक उस जीव को अपने स्वरूप का पता नहीं लग सकता। कहा भी है कि–

त्वामासाद्य पुरा कृतेन महता पुण्येन पूज्यं प्रभुं।
ब्रह्माद्यैरपि यत्पदं न सुलभं तल्लभ्यते निश्चितम् ॥
अर्हन्नाथ परं करोमि किमहं चेता भवत्संनिधा-
वद्यापि ध्रियमाणमप्यतितरामेतद्बहिर्धावति ॥

हे अरहन्त देव! पूर्वकृत महान् पुण्य के उदय से पूजने के योग्य आप जैसे स्वामी को पा करके जो पद ब्रह्मादि के लिए भी दुर्लभ है वह निश्चित ही प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु हे नाथ! मैं क्या करूँ? आपके संविधान में बलपूर्वक लगाने पर भी यह चित्त आज भी बाह्य पदार्थों की ओर दौड़ता है।

संसारो बहुदुःखदः सुखपदं निर्वाणमेतत्कृते।
त्यक्त्वार्थादि तपोवनं वयमितास्तत्रोज्झितः संशयः॥
एतस्मादपि दुष्करव्रतविधेर्नाद्यापि सिद्धिर्यतो।
बातालीतरलीकृतं दलविम भ्राम्यत्यहो मानसम् ॥

संसार बहुत दुःखदायी हे, परन्तु मोक्ष सुख का स्थान है। इस मोक्ष को प्राप्त करने के लिए हम धन सम्पति आदि को छोड़कर तपोवन को प्राप्त हुए हैं उसके विषय में हमने सब प्रकार के सन्देह को भी छोड़ दिया है। किन्तु इस कठिन व्रतविधान से भी अभी तक सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि वायु समूह के द्वारा चंचल किये गये पत्ते के समान यह मन भ्रम को प्राप्त हो रहा है। इस बाह्य पदार्थ से विमुख होकर अपने निरंजन निज शुद्धात्मा को जिस शरीर में आप मानते है उस शरीर में सर्वाङ्ग यह दूध और पानी के समान एक क्षेत्रवगाह रूप में स्थिति है।

अगुष्टं मोदलागि नेत्तिबरेगं सर्वाङ्ग सम्पूर्ण नु-
तुंगज्ञानमयं सुदर्शनमयं चारित्र तेजो मयं।
मांगल्यं महिमं स्वयंभु सुखि निर्वाध निरपेक्षि नि-
म्मंगंबोल्परमात्मनैद रुपिदै! रत्नाकराधीश्वरा! ॥31 ॥

हे रत्नाकराधीश्वर!

परमात्मा तुम्हारे शरीर में पाँव के अंगुल से लेकर मस्तिष्क तक सम्पूर्ण अवयवों में तिल में तेल की भाँति भरा रहता है। यह अधिक से अधिक

ज्ञान स्वरूप और सम्यक्‌चारित्र रूप ऐसा अत्यन्त तेजस्वी प्रकाशमान स्वरूप वाला है। वह पुनः मंगल स्वरूप अतिशय युक्त कषाय रहित होकर अपने स्वरूप को प्राप्त हो गया है। वह स्वरूप वाला विषयासक्ति से रहित ऐसा परमात्मा सम्पूर्ण शरीर में भर करके रहा हुआ है, ऐसा आपने कहा है। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है कि–

संकप्प-महो जीवो सुह-दुक्खयमं हवेइ संकप्पो।
तं चिय वेददि जीवो देहे मिलिदो वि सव्वत्थ॥

यदि जीव संकल्पमय है और संकल्प सुख दु:खमय है तो सर्व शरीर में मिला हुआ होने पर भी जीव उसी को जानता है। यदि जीव संकल्पमय है अर्थात् संकल्पों का एक पुंज मात्र है और संकल्प सुख दु:खमय है तो शरीर में मिला होने पर भी जीव समस्त शरीर प्रदेशों में होने वाले सुख दु:ख को ही जानता है। आशय यह है कि यदि चार्वाक जीव को संकल्प विकल्पों का एक समूह मात्र मानता है तो वे संकल्प सुख दु:ख रूप ही हो सकते हैं। उन्हीं को जीव जानता है तभी तो उसे मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ, इत्यादि प्रत्यय होता है। बस वही तो जीव है। आगे कहा है कि जीव शरीर से बिल्कुल भिन्न है। कहा भी है कि–

देह मिलिदो वि जीवो सव्व कम्माणि कुव्व दे जम्हा।
तम्हा पयट्टमाणे एयतं बुज्झदे दोण्हं॥

जिस कारण से शरीर से युक्त भी जीव तथा अपि शब्द से विग्रह गति वगैरह में औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर से सहित भी जीव घट, वस्त्र लकड़ी मुकुट, गाड़ी घर वगैरह बनाता है, असि, मसि, कृषि, व्यापार आदि से आजीविका करता है, इस तरह वह सब कार्यों को करता है तथा ज्ञानावरण आदि शुभाशुभ कर्म करता है, इस कारण से कार्य वगैरह करने वाला मनुष्य यह मान बैठता है कि जीव और शरीर दोनों एक ही हैं। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है–जीव जुदा है और शरीर जुदा है। निस्सार सांसारिक पंचेन्द्रिय विषय में सार वस्तु आत्मा का स्वरूप है। नि:सार पदार्थ में आत्मा की निज वस्तु की प्राप्ति नहीं होती।

मोरडियोळु मादल फलमं वरडिन केच्चलोलु पाल मोलदोळ्कोडं।
तरटनोळु कुसळ् बंबल् नरसुवे शिवमुखव परुळे पर भावनेयोळ्॥30॥

हे मूर्ख प्राणी! पहाड़ की चोटी पर बिजौरा फल को, बांझ गाय के स्तन में दूध को, खरगोश के सिर में सींग को और गंजा मनुष्य के सिर में बाल के पुंज या राशि को ढूढ़ने वाले मूर्ख के समान पर वस्तु की भावना में मोक्ष सुख ढूंढता है? कितने आश्चर्य की बात है॥30॥

विवेचन—इस श्लोक में आचार्य ने यह बताया है कि अनादि काल से यह अज्ञानी जीव निःसार अर्थात् सार रहित सांसारिक पर पदार्थ में अपने सुख की प्राप्ति के लिए हमेशा प्रयत्न करता जा रहा है। परन्तु इस जीव को आज तक न सुख मिला न मिल सकता है क्योंकि जितने भी संसार में दिखने वाले सुख हैं वे सब सार रहित हैं। यह जीव अज्ञान से पंचेन्द्रिय विषयों में रागी बनकर इन्द्रिय आदि पर वस्तु में अपना सुख मान बैठा है इसलिए यह दुःख का कारण है। जब तक स्व और पर पदार्थ का श्री गुरु द्वारा सच्चा ज्ञान नहीं होगा तब तक सच्चा आत्म सुख का मार्ग मिलना दुर्लभ है इसलिए आचार्य ने बताया है कि वे अज्ञानी जीव! जब तक पर वस्तु का मोह नहीं त्यागेगा तब तक सुख प्राप्त नहीं होगा। इसलिए यहाँ पर द्रव्य के सम्बन्ध के त्याग का उपदेश दिया है। कहा भी है कि—

मल्लाहं विणासंति गुण अहं ससग्ग खलेहिं।
बईसाणरु लोहहंमिलिउतें पिर्ट्टियइ घणेहिं॥

विवेकी जीवों के शीलादि गुण, मिथ्यादृष्टि, राग, द्वेष अविवेकी जीवों की संगति से नाश हो जाते हैं। अथवा आत्मा के निजगुण मिथ्यात्व रागादि अशुभ भावों के सम्बन्ध में मलिन हो जाते हैं। जैसे अग्नि लोहे के संग से पीटी कूटी जाती है। यद्यपि आग को घन कूट नहीं सकता, परन्तु लोहे की संगति से अग्नि भी कूटने में आती है, उसी तरह दोषों के संग से गुण भी मलिन हो जाते हैं। यह जानकर आकुलता रहित सुख के घातक जो देखे सुने अनुभव किये भोगों की वांछा रूप निदान बंध आदि खोटे परिणाम रूपी दुष्टों की संगति नहीं करना, अथवा अनेक दोषों सहित रागी द्वेषी जीवों की भी संगति

कभी नहीं करता, यह तात्पर्य है मोह के त्याग की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि–जो आकुलता से रहित है वह दु:ख का मूल मोह है। मोही जीवों को दु:ख सहित देखो। वह मोह परमात्मा स्वरूप की भावना का प्रतिपक्षी दर्शनमोही चारित्र मोह रूप है। इसलिए तू उसको छोड़ पुत्र स्त्री आदिक में तो मोह की बात दूर रहे, यह तो प्रत्यक्ष में त्यागने योग्य ही है, और विषय वासना के वश देह आदिक पर वस्तुओं का रागरूप मोह जाल है, वह भी सर्वथा त्यागना चाहिए। अन्तर बाह्य मोह का त्याग कर सम्यक् स्वभाव अंगीकार करना चाहिए। शुद्धात्मा की भावना रूप जो तपश्चरण इसका साधक जो शरीर उसकी स्थिति के लिए अन्न जलादिक लिए जाते है, तो उनमें विशेष राग न करना राग रहित नीरस आहार लेना चाहिए।

सद्गुरु कहते हैं कि हे योगिन! जब तक संसार की सार तथा असार वस्तु को विचार कर नहीं देखेंगे तब तक आत्म साधन की सामग्री प्राप्त होने पर भी आत्मा सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए आचार्य ने कहा है कि सबसे पहले जिस वस्तु को प्राप्त करना है उसके कारण को ठीक समझ ले, बिना उसके समझे साधन भी निरर्थकर हो जाता है।

हे अज्ञानी प्राणी! केवल शारीरिक शक्ति निर्माण करने से या पंचेन्द्रिय विषय को पुष्ट करने से कर्म खपेगा नहीं। इस शरीर के साथ सम्यग्दर्शन सहित संयम और चारित्र की जरूरत है। चारित्र धारण करे बिना और अन्तरंग बाह्य तप के साधन के बिना कर्म हटेगा नहीं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा हैं। शारीरिक शक्ति केवल बाह्य शत्रु को नाश करती है, किन्तु अन्तरंग कषाय शत्रु को नाश करने में असमर्थ है। अगर इस शरीर के साथ संयम हो तो अन्तरंग और बाह्य शत्रु दोनों को नाश कर देती है।

संसार की चिंता ही अकल्याणमार्ग है–

संसारी विषय वासनाओं में फंसे हुए प्राणी बाह्य विषय की चिंता के कारण सुख-दु:ख का अनुभव करते रहते हैं और उनको बाह्य विषय अधिक प्रिय होने से कोई अपना नाम चाहता है कोई अपना रूप चाहता है, कोई अपना पद चाहता है। अगर अपने अनुकूल उनको प्राप्त नहीं होता तो उनको

बड़ा दुःख होता है। परन्तु अपने अन्दर ही अनादि काल के सुख का भण्डार छिपा पड़ा है। सुख शान्ति को देने वाले तथा अनन्त गुणों के धारक, रूप रहित, स्पर्श रहित, शब्द रहित, वर्णादि रहित, गुण निधान परमानन्द आत्मा के जानकार अधिक नहीं हैं। अधिकतर लोग केवल बाह्य वस्तु के चिन्तन में ही अपने समय को व्यतीत करते हुए संसार में चक्कर काट रहे हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है?

उदाहरण स्वरूप एक मनुष्य कुमार अवस्था में था। उसको एक चिन्ता थी कि संसार में अनेक प्रकार के दुःख हैं इन दुखों को मैं कैसे निभा सकता हूँ। वह अपने मन में विचार करने लगा कि मैं इसी प्रकार से रहूँ तो मुझे किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होगी अपने जीवन को मैं सुखी बना सकता हूँ। कभी-कभी यह चिन्ता उत्पन्न होती थी कि क्या करूँ ब्याह करूँ या सन्यासी बनूँ। इस तरह उलझन में पड़ा था। एक दिन उसका मित्र कहने लगा कि अरे भाई! इस तरह से संसार में मनुष्य जन्म प्राप्त करके व्यर्थ हीं गंवाना ठीक नहीं क्योंकि अन्त में तुझे वृद्धावस्था प्राप्त करने के बाद कोई न कोई रक्षार्थ चाहिए इसलिए तू ब्याह कर, अन्त समय में स्त्री तुम्हारी रक्षा करेगी। तब कुमार ने विचार किया, ठीक है। विषय सुख को अनुभव किये बिना जन्म व्यर्थ है। विषय सुख के बिना आत्मा सुख नहीं प्राप्त हो सकता। अगर मैं बीमार हो जाऊं तो मेरी रक्षा कौन करेंगा? सहायता कौन करेगा? शुभ कार्य में मेरी सहायता कौन करेगा। इसलिए संसार में सुख अनुभव करने के लिए ब्याह करना ही हितकारी होगा। इस प्रकार मन में विचार करके वह कोई रूपवती कन्या ढूँढ़ने लगा। वह कन्या का रूप रंग अच्छा चाहता था, वह गुण नहीं चाहता था। उसके पास पैसे की कमी भी नहीं थी। घर मे अकेला ही था। उसने एक रूपवती कन्या को देखकर ब्याह कर लिया और भोगोपभोग में रत हो गया। जैसे वह स्त्री कहती थी उसकी आज्ञानुसार कार्य करता था। एक दिन उसकी स्त्री कहने लगी कि इतनी सम्पत्ति होते हुए भी कार आदि नहीं है, तुम जल्दी से जल्दी एक कार की व्यवस्था करो। तुरन्त ही एक कार खरीद कर लाया। परन्तु बार-बार ज्यादा घूमने से पैट्रोल आदि में ज्यादा व्यय होने लगा। इसी की चिन्ता करने लगा कि धन ज्यादा व्यय हो रहा है। अब

उसका परिवार भी बढ़ने लगा और परिवार के पालन पोषण की चिंता साथ लग गई। हारी बीमारी भी होने लगी। इससे डाक्टरों के खर्चे की चिन्ता हो गई। अब आय कम व्यय ज्यादा हो गया। सरकारी टैक्स भी बढ़ गया। इस प्रकार चारों तरफ से चिन्ता बढ़ गई। मन में विचार करने लगा कि जब तक ब्याह नहीं किया था सुखपूर्वक रहता था परन्तु अब आधि-व्याधि बढ़ती जा रही है। शान्ति क्षण मात्र भी नहीं है। शरीर में सुख शांति भी नहीं है। मैं अब क्या उपाय करूँ। अब यह विडम्बना किसी प्रकार से टल जाये। अब मैं सद्गुरु के पास जाकर इसका उपाय पूछूँ। तुरन्त ही गुरु के पास आकर पूछने लगा—मुझे सुख शान्ति कैसे मिल सकती है? सद्गुरु ने कहा कि तुझे संसार विलास में शान्ति कहाँ से मिलेगी। संसार में अनेक प्रकार की चिन्ता, विकल्प संकल्प हमेशा ही है। संसार में अनेक प्रकार की कषाय, मोह आदि जिस आत्मा के साथ लगे हुए हैं, उसको सुख शान्ति नहीं मिल सकती है। अगर उस चिन्ता संताप आदि को टालना चाहता है तो तू इस शरीर के द्वारा व्रत संयम नियम, तप आदि कर। इससे आत्म गुणों की पहचान होगी और फल मिलेगा। जितना कर्म आत्मा के साथ घर बांध कर पड़ा हुआ है, इस संयम तप आदि को देख करके ये खुद ही भाग जायेगा। जब तक कर्म का बंध है वह शुभाशुभ फल देगा। अगर तू व्रत और नियम का सम्यग्दर्शन पूर्वक पालन करेगा तो ये कर्म आत्मा से हट जायेगा अगर तू संयम धारण नहीं करता तो कर्म की निर्जरा नहीं होगी और केवल इस शरीर से व्रत नियम आदि धारण करके शुभ काम आदि करेंगे तो अशुभ कर्म नष्ट हो जायेगा। अशुभ कर्म नष्ट होने से शुभ कर्म के द्वारा अनेक प्रकार के इन्द्रिय भोग विषय जनित सुख की प्राप्ति होगी। अगर इसमें मुग्ध हो जाय तो फिर भी संसार में फंसेगा। इसलिए हे जीव! तुझे इन दोनों को दूर करने के लिए हमेशा इसी शुभ पुण्य के द्वारा ही प्रयत्न करना चाहिए। पुण्य और पाप दोनों ही संसार के लिए कारण हैं। इसलिए सबसे पहले आचार्य ने अशुभ को दूर करने के लिए शुभ राग अणुव्रत आदि धारण करने का आदेश दिया है। इसके द्वारा जो पुण्य संचित हो जाता है वह पुण्य अनेक प्रकार के इन्द्रिय भोग आदि को प्राप्त कराता है। अगर यह जीव दुबारा फंस जायेगा तो संसार के लिए कारण होगा। इसलिए

पाप और पुण्य का त्याग सिद्ध आत्मा का कारण होता है। इसके सम्बन्ध में रागद्वेष आदि जो प्राप्त हुआ है वह भी शुभ पुण्य के द्वारा प्राप्त हुआ है। तू केवल पंचेन्द्रिय विषय में लीन होकर नाम और रूप को देखता है। गुण को नहीं देखता है। इसलिए फिर भी तू बहिरात्मा बन कर इसी राग रूप से संसार में परिभ्रमण करेगा। इस कलिकाल में ज्यादातर मानव की प्रवृत्ति बाहरी रूप नाम के प्रति ही लगी रहती है। और उसी में आनन्द मानते हैं। इसी से उनको मानसिक चिंता संताप आदि लगे रहते हैं। इसका कारण है कि बाह्य रूप नाम आदि के निमित्त से या उनके मोह से उनको तरह 2 की चिंता उत्पन्न होती है। उसी चिंता के अनेक प्रकार का कर्म बंध करके संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। उदाहरणार्थ–जैसे कोई लड़का शादी होने के बाद अपने ससुराल पहले पहल पहुँचा। सास और ससुर उसको बहुत प्रेम करते हैं, लड़की भी प्रेम करती है। परन्तु उसे चिंता हमेशा रहती थी। पति का नाम ठनठनपल था। इसी नाम से लड़की को शर्म सी लगती थी। दूसरे के पति के नाम सुनकर खुश होती थी परन्तु अपने पति के नाम को सुनकर उसको हमेशा चिंता रहती थी। इससे अच्छा नाम क्या मेरे सास ससुर को नहीं मिला जो उन्होंने मेरे पति का नाम ठनठनपाल रखा। परन्तु वह अपने सास ससुर से पूछ नहीं सकती। इससे उसका शरीर सूखने लगा, खान-पान की रुचि कम होने लगी। सास ने पूछा–बहू तेरा शरीर क्यों सूखता जा रहा है। ऐसी कौन सी चिंता हैं तुझे। परन्तु पुत्र वधू ने कोई जबाब नहीं दिया। केवल ऊँचा साँस लेकर चुपचाप बैठ जाती। चिंता का कारण किसी को मालूम नहीं हुआ। उसे कहने की हिम्मत नहीं होती थी। कोई पूछता था तो उसको उत्तर भी नहीं देती थी। एक दिन उसके घर में एक लक्ष्मी नामक स्त्री लाख बेचने के लिए आई। पहले उसने स्त्री का नाम पूछा। उसने अपना नाम लक्ष्मी बताया। वह पूछने लगी, जब तुम्हारा नाम लक्ष्मी है तो तुम लाख क्यों बेचती हो ? लक्ष्मी ने कहा–अरे नाम में क्या रक्खा है। जब गुण नहीं हो तो नाम व्यर्थ है। नाम तो दुनिया में बहुत रख दिये जाते हैं परन्तु गुण न हों तो वह सब बेकार है। नाम से कुछ नहीं होता है, गुण में प्रेम रखना चाहिए। केवल मेरा नाम ही लक्ष्मी है। परन्तु मेरे पास गुण नहीं है इसलिए मैं लाख बेचकर पेट पालती हूँ। गुण से ही आदमी

पूजा जाता है, नाम से नहीं। इस प्रकार लक्ष्मी की बात सुन करके उसकी चिंता दूर हो गई। एक दिन धनपाल नामक बनिया दो रुपये मांगने आया तब उसने पूछा—तुम्हारा नाम क्या है। बनिये ने बताया कि मेरा नाम धनपाल है। वह पूछने लगी—अरे तेरा नाम धनपाल होते हुए तू याचना क्यों कर रहा है। दीनता-हीनता दिखाता है। वह बोला—नाम तो मेरा सुन्दर है परन्तु पुण्य नहीं है तथा नाम के माफिक गुण नहीं हैं। ऐश में उसको खत्म कर दिया। जिनके अन्दर सुन्दर गुण हो उनका जीवन सफल है। तब उसे चिंता करने की जरूरत नहीं है। इस प्रकार मन में समझ करके बिल्कुल चिंता छोड़ दी। इसलिए सद्गुरु कहते हैं कि कई लोग यौवन रूप आदि में फंसे रहते हैं। कई लोग नाम में मोहित हो जाते हैं। उससे सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि से हमेशा विमुख रहते हैं। अनेक प्रकार के संताप चिन्ता आदि में फंसे रहते हैं। इससे उनकी शांति नहीं मिलती। जो बाह्य नाम रूप में हमेशा व्यस्त रहते हैं, कभी भगवान के गुणों में उनकी लगन नहीं रहती है। वे आत्मिक गुणों की प्राप्ति करने में असमर्थ रहते हैं। उन्हें आत्म भावना के लिए कभी भी मन में विचार नहीं आता है। हमेशा मन में संकल्प विकल्प रहता है। इसलिए जीव! तू हमेशा इस तरह से बाहर के नाम रूप गुण के प्रति जब तक फंसे रहेंगे जब तक विडम्बना के प्रति मोहित होंगे तब तक आत्म कल्याण का मार्ग कभी भी तुझे प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए संकल्प को उत्पन्न करने वाली चिंता को छोड़ दो।

पुदगलदोळ्त्म भेदम् नदनरियदे बाह्य तपदोळेसगुवडदु तां।
विरिरेलेयोळु रसवरसुव पदनवकुं मुक्तिगेय्दि सल्कार्तपुदे ॥31॥

अर्थ—पुद्गलमय जड़ शरीर और आत्मा के भेद को न समझ कर केवल बाह्य तप करने मात्र से क्या आत्म सिद्धि होगी? अर्थात् कभी नहीं। जिस तरह बाँस के पत्ते को इकट्ठा करके मसल करके रस निकालने की चेष्टा करने से रस कभी नहीं निकालेगा। इसी तरह केवल शरीर तपाने से मुक्ति की प्राप्ति होना कठिन है। भीतर की जब तक कषाय न सूखे, तब तक केवल शरीर को सुखाने के मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

विवेचन—हे अज्ञानी जीव! शरीर और आत्मा के भेद को न समझ कर केवल काय क्लेश मात्र से आत्म सिद्धि नहीं हो सकती है।

देशोन पूर्व कोट्या यदर्जितं भवति विभक्त चारित्रं।
तदपि हि कषायकलुषो, हारंयतिमुनिर्यतेना॥

पूर्व करोड़ वर्ष तक तप किया, चारित्र भी धारण किया, अगर कषाय कलुष दूर नहीं हुआ तो वह साधु संसार से मुक्त नहीं हो सकता और आत्म सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए बाह्य विषय वासना से जब तक मोह नहीं हटेगा और स्व पर का ज्ञान न होगा तब तक साधु संसार से कभी भी मुक्त नहीं हो सकता है। भरतेश वैभव में कहा है कि–

जो मनुष्य ज्ञान शून्य होकर काय क्लेश तप करता है, अनेक प्रकार से शरीर को कष्ट देता है, उसका पंचेन्द्रिय निग्रह अग्नि के समान है और जो ज्ञानी है किन्तु संसार में रत है इन्द्रिय भोग भी भोगता है उसके लिए इन्द्रिय पंच रत्न के समान है। ज्ञान रहित होकर संसार में भोग भोगने वाले भोगी भव्य रोगी है। और सम्यग्दर्शन ज्ञान सहित विषय भोग भोगने वाला भोगी योगी के समान कहलाता है। ज्ञानी कर्म करता हुआ भी कर्म को स्पर्श नहीं करता है। ज्ञानी जो कर्म करता है वह ज्ञानपूर्वक करता है और वह ज्ञानी हमेशा कर्म करते हुए भी यह ज्ञान ही मेरा शरीर है और बाह्य शरीर मेरा नहीं है, इस प्रकार भेद दृष्टि से आराधना करता है। इसलिए उसको कर्म बन्ध नहीं हो सकता है। अज्ञानी आत्म ज्ञान न होने के कारण संसार में दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता है। ये ही ज्ञानी और अज्ञानी का भेद है।

विज्ञान के दो भेद हैं। एक तो अन्तरंग और दूसरा बहिरंग। अन्तरंग विज्ञान ग्राह्य विज्ञान है अर्थात् ग्रहण करने योग्य है। बाह्य विज्ञान बाह्य वस्तु को समझने के लिये है। ये सभी हेय है। रत्न परीक्षा, हाथी की परीक्षा घोड़े की परीक्षा ये सभी प्रयत्न के साथ परीक्षा करना ये सब बाह्य विज्ञान है। रत्नत्रय रूप मेरा आत्मा है ऐसे अपने अन्दर ही देखना, उसमें लीन होना यह अन्तरंग विज्ञान है। कामशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, मंत्र, तंत्र आदि जानना यह बाह्य विज्ञान है। अत्यन्त निरंजन निर्भक्त अपने आत्मा को अन्तरंग में जानना उसमें लीन रहना यह अन्तरंग विज्ञान है। गणितशास्त्र, महाभारत पंचांग वस्तु लक्षण, ये सभी जानना ये सभी बाह्य विज्ञान है। गुण और गुणी सहित अपनी

आत्मा को अपने अन्दर जानना ये अन्तरंग विज्ञान है। छन्द, अलंकार, काव्य नाटकशास्त्र ऐसे अनेक प्रकार के शास्त्र को जानना ये बाह्य विज्ञान है। सम्पूर्ण शरीर सम्बन्धी परवस्तु को अपनी आत्मा से भिन्न जानना, अपने अन्तरंग में आत्मा को जानना यह अन्तरंग विज्ञान है। वेद, पुराण आगम आदि को जानना यह सभी बाह्य विज्ञान है। स्व पर का भेद करके भेद विज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा के अन्दर समझना, रूचि रखना, इसमें लीन रहना यह भेद अन्तरंग विज्ञान है। हे मूढ़ प्राणी! पहिले जन्म में अनेक बार बाह्य विज्ञान का ज्ञान प्राप्त हो चुका है और आज तक भी बाह्य विज्ञान की परीक्षा करता आ रहा है। परन्तु आज तक तुझे अन्तरंग विज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। जब तक अन्तरंग विज्ञान की प्राप्ति न हो, तब तक इस जीव को संसार का अन्त करके मोक्ष की प्राप्ति का होना अत्यन्त दुर्लभ है। यह अन्तरंग विज्ञान सामान्य नहीं है। यह अन्तरंग विज्ञान मोक्ष पद के लिये बीज है। और चिन्तामणि रत्न के समान है। कामधेनु के समान है। इच्छित पदार्थ को देने वाला है। कल्पवृक्ष के समान है। इस प्रकार ये अन्तरंग विज्ञान जब तक प्राप्त न हो तब तक यह जीव संसार में बाह्य वस्तु में रत होकर संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिये हे प्राणी! तू बाह्य विज्ञान को छोड़कर अन्तरंग विज्ञान प्राप्ति के लिये हमेशा प्रयत्न कर।

ये बहिरात्मा हमेशा पर वस्तु को अपना आत्मा मान लेता है। कहा भी है कि–

वपुष्यात्ममतिः सूते बन्धुवित्तादिकल्पनम्।
स्वस्व संपदमेतेन मन्वानं मुह्यते जगत्॥

अर्थ–शरीर में जो आत्मबुद्धि है सो बन्धु धन इत्यादि की कल्पना उत्पन्न कराती है, तथा इस कल्पना से ही जगत् सम्पदा को अपनी मानकर ठगा गया है।

तनावात्मेति यो भावः स स्याद्बीजं भवस्थितेः।
बहिर्वीताक्षविक्षेपस्तत्त्यक्त्वान्तर्विशेषतः॥

अर्थ–शरीर में ऐसा जो भाव है कि यह मैं आत्मा ही हूँ ऐसा भाव

संसार की स्थिति का बीज है। इस कारण, बाह्य में नष्ट हो गया है इन्द्रियों का विक्षेप जिसके, ऐसा पुरुष उस भावरूप संसार के बीज को छोड़कर अन्तरंग में प्रवेश करे, ऐसा उपदेश है।

आगे आचार्य कहते हैं कि कोई अज्ञानी प्राणी जैसे नारियल के भीतर के हिस्से को छोड़कर ऊपर के छिलके खावे। इसी प्रकार यह आत्मा अन्तरंग विज्ञान रूप रस को छोड़कर बाह्य वस्तुओं को ग्रहण करता है और उसी में सुख मानता है। कहा है कि—

अंगात्मभेदमरियदे संगत मागिर्द कर्ममं किडिसुवोडदु।
लुंगोग्र तपदोलेसेगदे तेगं पिडिदोटेवेररि मेलुवं तक्कुं॥32॥

अर्थ—शरीर और आत्मा में रहने वाले भेद को समझकर यह मूर्ख जीव अत्यन्त कठिन तप करके शरीर को सुखा देता है। परन्तु आत्मा में अनादिकाल से चिपके हुए कर्म को नाश करने की भावना उसमें नहीं होती। केवल बाह्य तप को ही कर्म की निर्जरा का कारण समझता है। जैसे कि, नारियल के अन्दर की गिरी को न खाकर ऊपर के छिलके को खाने वाले को पशु के समान समझना चाहिये अर्थात् वह मूर्ख है। इसलिये आचार्य बतला रहे हैं कि आत्मा का भेद भेदक ज्ञान और बहिरंग अन्तरंग दोनों मिलकर तपस्या हो तो आत्मा में चिपका हुआ कर्म नाश हो जाता है।

विवेचन—इस श्लोक में आचार्य ने बहिरात्मा जीव का वर्णन किया है। उस बहिरात्मा जीव ने अनादि काल से पर वस्तु का संयोग होने के कारण अपने अन्तरंग आत्मा को प्राप्त नहीं किया है। जैसे मृग की नाभि में कस्तूरी होने पर भी वह सुगन्धि पर लुब्ध होकर उसको बाहर प्राप्त करना चाहता है क्योंकि वह नहीं जानता है कि उसकी नाभि में कस्तूरी है। इसको न जानकर बाह्य सुगन्ध के लिये प्रयत्न करता है। इसी तरह बहिरात्मा बाह्य सुख को ही अपना सुख मानकर अपने अन्दर अखंड अविनाशी सुखमय अमृत का सरोवर पास होने पर भी उसका स्वाद लेना नहीं चाहता है। जिस प्रकार भैंस के सामने हरे पत्ते के सहित गन्ने को रख दिया जाय तो वह गन्ने के रस के स्वाद को न जानकर हरे पत्तों को खाकर आनन्द मानती है। इसी तरह पंचेन्द्रिय बाह्य

विषय भोगों में रत हुआ यह बहिरात्मा जीव उसी में मग्न होकर अपनी निजी वस्तु का रस पास होने पर भी उसका स्वाद नहीं लेता है। जैसे समुद्र में हमेशा रहने वाली मछली अपने पास ही रहने वाले पानी को न पीकर बाहर के पानी से अपनी तृष्णा बुझाना चाहती है।

जैसे धोबी दिन भर पानी में खड़ा होकर सबके कपड़े धोकर देता है परन्तु अपने कपड़े जो कि मैले हैं उनको धोने के विचार नहीं करता है। इसी प्रकार बहिरात्मा अज्ञानी जीव बाह्य पंचेन्द्रिय विषय भोगों में आसक्त होकर उसी की चिंता में जन्म मरण करके अनेक प्रकार के दु:ख उठाता है। परन्तु अनेक प्रकार के दु:ख और चिन्ता को मिटाने वाले अचिन्तनीय ऐसे अपने अन्दर ही रहने वाले सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रत्नत्रय आत्मा को न पहिचानकर उसको आस्वादन कर सुखी नहीं होना चाहता यह कितने आश्चर्य की बात है।

जो देह को आत्मा समझता है, वह वीतराग निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुए परमानंद सुखामृत को नहीं पाता। वह अज्ञानी है। इस तीन प्रकार के आत्माओं में से बहिरात्मा तो त्याज्य ही है—आदर योग्य नहीं है। इसकी अपेक्षा यद्यपि अंतरात्मा अर्थात् सम्यग्दृष्टि वह उपादेय है। तो भी सब तरह से उपादेय जो परमात्मा उसकी अपेक्षा वह अंतरात्मा हेय ही है। अत: शुद्ध परमात्मा ही ध्यान करने योग्य है, ऐसा जानना।

यहाँ भी आचार्य ने बहिरात्मा का स्वरूप बतलाया है कि—

मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुदु आविट्ठो।
जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा॥

जो जीव मिथ्यात्वकर्म के उदयरूप परिणत हो, तीव्र कषाय से अच्छी तरह आविष्ट हो और जीव तथा देह को एक मानता हो, वह बहिरात्मा है। जिसकी आत्मा मिथ्यात्वरूप परिणत हो, अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि तीव्र कषाय से जकड़ी हुई हो और शरीर ही आत्मा है ऐसा जो अनुभव करता है वह मूढ़ जीव बहिरात्मा है। गुणस्थान की अपेक्षा से बहिरात्मा के उत्कृष्ट आदि भेद बतलाये हैं जो इस प्रकार हैं—प्रथम गुणस्थान में स्थित जीव

उत्कृष्ट बहिरात्मा है। दूसरे गुणस्थान वाले मध्यम बहिरात्मा है और तीसरे मिश्र गुणस्थान वाले जघन्य बहिरात्मा हैं। विशेष अर्थ इस प्रकार है जो जीव शरीर आदि परद्रव्य मे आत्मबुद्धि करता है वह बहिरात्मा है। और इस प्रकार की बुद्धि का कारण मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होने से शरीर आदि परद्रव्यों में उसका अंहकार और ममत्वभाव रहता है। शरीर के जन्म को अपना जन्म और शरीर के नाश को अपना नाश मानता है। ऐसा जीव बहिरात्मा है। उसके भी तीन भेद हैं– उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव उत्कृष्ट बहिरात्मा है, क्योंकि उसके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय रहता है। दूसरे सासादन गुण स्थानवर्ती जीव मध्यम बहिरात्मा है, क्योंकि वह अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय हो आने के कारण सम्यक्त्व से गिरकर दूसरे गुणस्थान में आता है, क्योंकि उसके मिथ्यात्व का उदय नहीं होता है। तीसरे मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव जघन्य बहिरात्मा है, क्योंकि उसके परिणाम सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए होते हैं तथा उसके न तो मिथ्यात्व का उदय होता है और न अनन्तानुबन्धी का उदय होता है।

अहो भव्य जीवो! यह समस्त लोक केवलज्ञानगोचर है तथापि इस संस्थानविचय नाम धर्मध्यान में मुनि सामान्यता से सब ही को तथा व्यस्त कहिए कुछ भिन्न-भिन्न को अपनी शक्ति के अनुसार चिन्तवन करें।

ओर्वने निजशुद्धात्मं निर्वाणसुखक्के हेतुवेंदरेयदवं।
निर्बंधदे माळ्प तपं कर्बि रे पेर्विंदिरनहसि मेलुवंतक्कु ॥33॥

अर्थ—अपना निज शुद्ध आत्मा ही मोक्ष के लिए कारण है ऐसा न समझने वाला बहिरात्मा द्रव्यलिंगी मुनि अत्यन्त घोर कठिन तप करता है किन्तु वह कर्म निर्जरा का कारण न होकर संसार के लिये ही कारण बन जाता है। इसका कारण यह है कि जैसे नारियल को लेकर ऊपर के छिलके को खाया और भीतर की असलो गिरि को फेंक दिया अथवा ऐसा समझना चाहिए कि सामने हाथ में रखे मीठे गन्ने को छोड़कर सूखे बांस को गन्ना

समझकर खा लिया, इसी प्रकार भाव रहित बहिरात्मा द्रव्यलिंगी को समझना चाहिए। इसका सार यह है कि तप से रहित होने के कारण आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म की निर्जरा और मोक्ष की प्राप्ति होना उस मुनि को अत्यन्त दुर्लभ है।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में अज्ञानी बहिरात्मा को संबोधन करते हुए कहा है कि यह अज्ञानी जीव अनादिकाल से बाह्य वस्तु का भोगी होकर अनेक प्रकार के दु:ख भोग रहा है। अब तो चेत, इस तरह तू जन्म मरण कब तक करेगा। अरे प्राणी! अपने मन में स्थिर होकर सोच तो। कहा भी है कि—

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं।
रूण्णाण णयणणीरं सायरसलिलाहु अहिययरं॥

हे मुने! तूने माता के गर्भ में रहकर अनेक बार जन्म लिया और मरण भी किया। जहाँ-जहाँ जन्म लिया वहाँ-वहाँ उस माता के लिए मुने मोह के कारण रुदन किया। अगर आज तक के तेरे रुदन के पानी की बूँदों को इकट्ठा किया जाय तो एक समुद्र के जल से भी अधिक या अनन्त गुना होगा।

हे योगी! तूने इस अनन्त संसार में अब तक जितने जन्म लिए हैं अगर उनके नखकेश अस्थि आदि को इकट्ठा किया जाये तो मेरु पर्वत से भी अधिक ढेर हो जाय।

हे जीव! जल में, पृथ्वी में, अग्नि में, वायु में, आकाश में, पर्वत में, नदी में, पर्वत की गुफा में, वृक्ष में, वन में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहाँ जन्म लेकर तूने वास न किया हो। इस प्रकार करते हुए तू अनादिकाल से पराधीन हो कर संसार में भ्रमण कर रहा है।

हे जीव! इस लोक में जितने पुद्गल स्कन्ध हैं तूने बार-बार उनको ग्रहण किया है परन्तु आज तक तेरी तृप्ति न हुई।

हे जीव! इस लोक में तृष्णा की पीड़ा से तूने तीन लोक का समस्त जल पी लिया। संसार का मंथन किया तो भी रत्नत्रय का चिन्तवन एक बार भी न किया।

मुनिवर! तूने इस अनन्त भवसागर में इस शरीर को अनंत बार ग्रहण कर छोड़ दिया। उसकी गिनती नहीं है। अब तू चेत। हे जीव! तूंन अनेक प्रकार की योनियों में भ्रमण करते हुए विष भक्षण आदि द्वारा मरण किया। शस्त्र घात से मरण किया। संक्लेश परिणाम किये। संक्लेश परिणाम करके मनुष्य पर्याय में जन्म लिया। आहार और स्वास्थ्य का निरोध होने के कारण आयु का क्षय हो गया। शीतकाल में शीत से तूने अनेक प्रकार के कष्ट उठाये। अग्निकाय के द्वारा जलकर अपना दहन किया। पर्वत से कहीं गिर पड़ा। वृक्ष पर चढ़कर कभी मरण किया। इस प्रकार तुझे अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़े। कषाय के कारण तूने पारा आदि की विद्या को सीखा। उसके संयोग से कभी-कभी उसको खाकर के मरण भी किया और भी अन्य चोरी, अन्याय, व्यभिचार आदि के निमित्त से अनेक प्रकार के बुरे काम करके कुमरण किया। तूने अनेक प्रकार के तिर्यच्च मनुष्य आदि पर्याय धारण करके आयु का विच्छेद किया और मरते समय तीव्र दुःख उठाया। खोटे परिणाम से मरकर दुर्गति में पड़ा। इस प्रकार हे जीव! तूने संसार में जहाँ-तहाँ दुःख उठाया। इसलिए आचार्य दयालु होकर कहते हैं कि अरे! संसार से मुक्त होने का आज तक तूने कोई विचार नहीं किया।

निगोद का दुःख—हे आत्मन्! तू निगोद वास में एक अन्तर्मुहूर्त में छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण को प्राप्त हुआ अर्थात् निगोद में एक श्वास में अठारह विभाव पर्याय धारण किये। वहाँ एक मुहूर्त में 3373 श्वासोच्छ्वास लिए। उसमें छत्तीस सौ पिचासी और एक श्वास के तीसरा भाग के 66336 बार निगोद में जन्म मरण किया। इससे सम्यग्दर्शन पाये बिना मिथ्यात्व के उदय से अनेक प्रकार का दुःख सहन किया। इसी प्रकार एक अन्त मुहूर्त में द्वीन्द्रिय के एक शुद्र 80, तीन इन्द्रिय के 60, चार इन्द्रिय 40 और पाँच इन्द्रिय के 24 ऐसे हे आत्मन् तूने ऐसे भव धारण किये अर्थात् अन्य स्थानों में भी बिका है। कहा है कि—पृथ्वी, अपतेज, वायु, साधारण निगोद के सूक्ष्म बार के दस और प्रतिष्ठित वनस्पति एक ऐसे ग्यारह स्थान के भव तो एक-एक के छः हजार 12 मिलकर 66132 हो गयें पुनः वह द्वीन्द्रिय 204 ऐसे कुल मिलाकर छ्यासठ हजार तीन सौ इक्कीस एक अन्तर्मुहूर्त में हो गये।

हे जीव! इतने पर्याय धारण करने पर भी तूने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रत्नत्रय को नहीं पाया। पूर्व में कहे हुए इस संसार में तूने भ्रमण किया। अब तू स्व पर का ज्ञान कर। अपने को तू पहचान, रत्नत्रय का ध्यान कर।

हे आत्मन्! अपने आत्मा में रत होकर यथार्थ रूप का अनुभव कर। यही सम्यक् श्रद्धान है। आत्मा का जानना सम्यक्ज्ञान है। अपने आत्मा का आचरण करना, रागद्वेष में परिणत न होना अपने आत्मा में रमण होना उसका नाम चारित्र है। यही निश्चयरत्नत्रय है। यही मोक्ष मार्ग है।

हे जीव! तूने इस संसार में जन्म जन्मांतरों में अनेक प्रकार के कुमरण किये। अब तू जिस मरण से जन्म और मरण का नाश होता है, ऐसे शुद्ध रत्नत्रय आत्मस्वरूप का चिन्तन कर।

मरण के भेद शास्त्र में इस प्रकार बतलाये हैं कि–(1) आवीचि मरण (2) तद्भव मरण (3) अवधि मरण (4) आद्यंत मरण (5) बालमरण (6) पंडित मरण (7) आसन्न मरण (8) बाल पंडित मरण (9) सशल्यमरण (10) पलायमान मरण (11) वृशार्थ मरण (12) विप्राणसमरण (13) सिद्धपुष्टमरण (14) भक्त प्रत्याख्यान मरण (15) इंगिनी मरण (16) प्रायोपगमनमरण (17) केवल मरण। ऐसे मरण के सतरह भेद हैं।

इनका खुलासा इस प्रकार है। जो आयु का उदय होने से समय-समयपर मरण होवे उसको आवीचि मरण कहते हैं। वर्तमान पर्याय का अभाव होना, शरीर का अभाव होना उसको तद्भव मरण कहते हैं जो मरण वर्तमान पर्याय में होता है उसको अवधि मरण कहते हैं। इसके दो भेद हैं। जैसे प्रकृति, स्थिति अनुभाग वर्तमान का उदय आया, उसी तरह आगे का भी उदय आवे उसको सर्वावधिमरण कहते हैं और एक देश बंध उदय होकर जो मरण हो जाये उसे देशावधि मरण कहते हैं।

जो वर्तमान पर्याय स्थिति आदि का जैसा मरण था वैसा ही आगे की सर्वतो अथवा देशतो बंध हो, उसको आद्यंतमरण कहते हैं।

पांचवां बालमरण है। वह बाल मरण पाँच प्रकार का है।

(1) अभिव्यक्तबाल (2) व्यवहारबाल (3) ज्ञानबाल (4) दर्शनाबल

(5) चारित्रबाल। धर्म अर्थ काम इनको न जाने इनका आचरण करने में समर्थ इनका शरीर नहीं हो इसे अभिव्यक्त बालमरण कहते हैं। जो लोक के और शास्त्र के व्यवहार को न जाने तथा बालक अवस्था के समान आचरण करे वह व्यवहार बाल है। वस्तु का यथार्थ ज्ञान न होना वह ज्ञान बाल है। तत्व श्रद्धान रहित मिथ्यादृष्टि बाल है।

चारित्र रहित प्राणी चारित्र बाल है। इससे मरना वह बालमरण है। यहाँ मुख्यतया दर्शन बाल का ग्रहण किया है। इससे सम्यक्दृष्टि के अन्य होते हुए भी दर्शन पंडित के सद्भाव से पंडित मरण में गिना है। यहाँ दर्शन बाल मरण संक्षेप से दो प्रकार का है। इच्छा प्रवृत्त, अनिच्छा प्रवृत्त। उसमें अग्नि से धूम से, विष से, अग्नि से जलकर या पर्वत के शिखर से नीचे गिरकर, अति शीत उष्ण की बाधा से, बन्धन से, क्षुधा से, तृष्णा के अवरोधन से, जीभ काढ़कर, विरुद्ध आहार सेवन से, अज्ञान से जो बाल अज्ञानी मरते हैं उनको इच्छा प्रवृत्त कहते हैं और जीने की इच्छा कर के जो मरता है वह अनिच्छा प्रवृत्त है।

पंडित मरण चार प्रकार के हैं। व्यवहार पंडित, सम्यक्त्व पंडित, ज्ञान पंडित और चारित्र पंडित। उसमें लोक व्यवहार में प्रवीण होकर जो मरता है वह व्यवहार पंडित मरण है। सम्यक्त्व सहित जो मरता है वह सम्यक्त्व पंडित है। सम्यक् ज्ञान सहित जो मरता है वह चारित्र पण्डित है। सम्यक् चारित्र सहित जो मरता है वह चारित्र पंडित है। यहाँ दर्शन, ज्ञान और चारित्र सहित पण्डित मरण का ग्रहण है। व्यवहार पण्डित को मिथ्यादृष्टि बाल मरण में गिना है। मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त होकर संग से छुटने वाले को आसन्नभव कहते हैं। उसमें पार्श्वस्थ स्वच्छन्द सुशील, संतप्त भी होता है। ऐसे पाँच प्रकार के भ्रष्ट साधु का मरण आसन्न मरण कहलाता है। सम्यग्दृष्टि श्रावक का जो मरण है उसको बाल पण्डित मरण कहते हैं।

सशल्य मरण दो प्रकार के हैं। वहाँ मिथ्यादर्शन, माया, निदान यह तीन शल्य भाव शल्य है और पाँच स्थावर और त्रस में असहनीय ये द्रव्यशल्य सहित है। ऐसे शल्य मरण है। जो प्रशस्त क्रिया में आलसी होकर व्रत में

अपनी शक्ति को छुपाता है और ध्यानादि से दूर रहता है और व्रत से रहित हो उनके मरण को पलायमान कहते हैं। वृशार्थ मरण चार प्रकार के हैं। वह आर्त रौद्रध्यान सहित मरण है। जहाँ पाँच इन्द्रियों के विषय में रागद्वेष सहित मरण होना इन्द्रियवृशार्थ मरण है। साता असाता की वेदना सहित मरे वह वेदना वृशार्थ मरण है। क्रोध मान माया लोभ कषाय के वशीभूत होकर मरे उसको कषाय वृशार्थ मरण है। हास्य विनोद कषाय के वशीभूत होकर मरे वह नोकषय वृशार्थ मरण है। जो अपने व्रत क्रिया चारित्र में उपसर्ग लाये वह कहीं भी न जाय, भ्रष्ट होने का समय हो जाये और उसके अन्दर आसक्त होकर उसके अन्दर मर जाता है तथा अन्न पानी का त्याग कर देता है वह विप्रानस मरण है। जो शस्त्र ग्रहण कर मरण करता है वह गृद्धकृष्ट मरण है। जो अनुक्रम से अन्न पानी का यथाविधि त्याग करके मरे वह भक्त प्रत्याख्यान मरण है। जो संन्यास से मरण को धारण करे और अन्य किसी से भी वैयावृत्य आदि न करावे उसे इंगिनी मरण कहते हैं। जो प्रायोपगमन सन्यास करे तथा किसी से वैयावृत्य न करावे, आप भी न करे और प्रतिमायोग में रहे वह प्रायोपगमन मरण है। परमानन्द का योग कौन प्राप्त कर सकता है–

हे योगी ! ऐसा अनुपम योग जिसको प्राप्त होता है उसी को परमानन्द निजी स्वरूप की प्राप्ति होती है। यह योग न तो अनुपम आत्म योग धारण करने से या न बहुत खाने वाले योगी को प्राप्त होता है या न बिल्कुल न खाने वाले को प्राप्त होता है या न अधिक शयन करने वाले को होता है और न अत्यन्त जागने वाले को प्राप्त हो सकता है। जिन्होंने अपने मन से इन्द्रिय विषय को, कषाय को दूर कर अपने मन को एकाग्र कर पर वस्तु से ममत्व बिल्कुल दूर किया है तथा जो इस संसार के भयानक दु:खों से घबराया है और सम्यक् दर्शन, ज्ञान चारित्र ऐसे रत्नत्रय में रुचिपूर्वक रमण करते हुए जो उत्कृष्ट चारित्र में रमण कर रहा है और रमण करते हुए अपने आत्मा को उत्कृष्ट चारित्र में रमण कर रहा है और रमण करते हुए अपने आत्मा को अत्यन्त पवित्र शुद्ध तथा निर्मल किया है चारित्र मार्ग का अनुकरण किया है उन्हीं को, यह मार्ग अर्थात् परमानन्द निजी रूप की प्राप्ति या परमानन्द का योग प्राप्त हो सकता हे और उन्हीं योगी को यथार्थ रूप में अपने अंतरंग में

मिलता है। इसका सार यह है कि भव-भव के नाश करने वाले यथा शुद्ध पवित्र आचरण करने वाले के निज में ही निज की प्राप्ति होती है और अमृतमयी आनन्द पान का आस्वादन करते हुए बाहर के विषयादि को भूल जाता है। जैसे कोई पुरुष बढ़िया से पकवान खाकर के डकार लेता है उसी तरह परमानन्द पवित्र योगामृत का स्वाद करके जिनकी तृप्ति हो गई है ऐसे योगी बिना खाये डकार लेता है और परम सन्तोष के साथ उसमें रत रहता है उसी योगी को यह निजात्म तत्व की प्राप्ति होती है।

चारित्र की महिमा को बतलाते हैं—

विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव।
त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते ॥

अर्थ—जीवाजीव के स्वरूप को सत्य, निराला दिखाने वाला जो ज्ञान उसे विज्ञान समझना चाहिये। उसके द्वारा जब मोहनीय कर्म का नाश हो जाता है तब सम्यग्दर्शन का लाभ होता है क्योंकि भेद ज्ञान के होने पर सम्यग्दर्शन के घातक दर्शन मोहनीय नामा कर्म का नाश होगा और फिर सम्यग्दर्शन का लाभ अवश्य ही होगा। इस प्रकार सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान ये मोक्ष के दो साधन जब कि मिल चुके तो तीसरे एकमात्र चारित्र का मिलना बाकी रह गया। यह तीसरा साधन जब प्राप्त हो जाता है तब मोक्ष का प्राप्त होना दूर नहीं और उसमें विलम्बन नहीं समझना चाहिये। परिग्रह का त्याग होने से चारित्र प्राप्त होता है या यों कहिये कि परिग्रह का त्याग होना ही चारित्र है, क्योंकि विषयों में रागद्वेष होने से संसार बढ़ता है इसलिये संसार के असार स्वरूप से जो विरक्त होगा उसका परिग्रहों से मन हटेगा और इसलिये परिग्रह को छूट जाना उसके लिये एक सहज बात है। जो जिसे अच्छा बुरा समझता है उसका उसमें रागद्वेष होना सहज सिद्ध है। इसी प्रकार जो जिसे निस्सार समझता है उसका उससे मोह छूट जाना भी सहज बात है। इसलिये जो विषयों के दुःखदायक फल को समझ चुका है वह उनसे क्यों न उदास होगा? जब कि विषयों से उदास हो गया तो विषयों के ही लिये एकत्रित किये जाने वाले परिग्रहों से क्यों न हटेगा ? बस, इसलिये परिग्रहों का छूट जाना अंतरंग के चारित्र परिणाम का प्रकाशक हो सकता है। जब कि इतनी सूक्ष्म दृष्टि से

विचार न करना हो तो यों कह लीजिये कि, परिग्रहों का त्यागना ही चारित्र है। जब ये तीनों रत्न प्राप्त हो चुके तो समझना चाहिये कि मोक्ष प्राप्ति के पूरे साधन जुड़ गये। ऐसी अवस्था में जरामरणादि शरीर संबंधी दु:खों से रहित मोक्ष पद की प्राप्ति क्यों न होगी ? क्योंकि, कुल कारणों के मिल जाने पर कार्य का सिद्ध होना अवश्य ही न्याययुक्त है।

जो केवली मुक्ति प्राप्त करे वह केवली मरण है। इस प्रकार यह सत्रह प्रकार के कहे हुए मरण हैं। उनमें पांच प्रकार के मरण मुख्य हैं—पण्डित पण्डित, पण्डित, बाल पण्डित, बाल और बाल बाल। वहाँ दर्शन ज्ञान चारित्र के अतिशय से सहित केवली का जो मरण होता है वह पण्डित पण्डित है। और इनके समान जो साधु का मरण होता है वह पंडित है। सम्यग्दृष्टि श्रावक वह बाल पण्डित है और पूर्व में चार प्रकार जो पण्डित कहा है उनमें से एक भी भाव जिसमें नहीं है वह बाल है। जो सबसे शून्य है वह बाल-बाल है। इसमें पण्डित-पण्डित मरण, पण्डित मरण और बाल पण्डित मरण ये तीन प्रशस्त सुमरण कहे हैं। इनसे जो अन्य मरण हैं, वे हेय हैं, और कुमरण के कारण हैं या तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र एकदेश सहित मरे और जो इनके स्मरण सहित मरे। इनको स्मरण करने का उपदेश जिनेन्द्र देव ने कहा है। हे योगी ! अगर तुझे कल्याण करना है तो ऊपर कहे हुए सुमरण का स्मरण करो और भाव से अर्थात् अंतरंग से बहिरात्मा के भाव को छोड़कर अंतरात्मा के सम्मुख बनो। और इन पंच परावर्तन संसार को छेद कर संसार से मुक्त हो जावो।

हे जीव ! तूने कभी भावलिंग धारण नहीं किया। केवल तूने द्रव्यलिंग को ही धारण किया परंतु द्रव्यलिंग को धारण करके इन लोक प्रमाण सर्व स्थान में जन्म लिया। एक परमाणु प्रमाण एक प्रदेशमात्र भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ कोई जन्म लिया न हो या कोई ऐसा स्थान खाली नहीं जहाँ तूने मरण नहीं किया। सारांश यह है कि इस जीव ने द्रव्यलिंग धारण कर के स्वर्ग में भी जन्म और मरण किया। जन्म नहीं लिया ऐसा कोई प्रदेश नहीं रहा। इसलिये योगी ! द्रव्यलिंग और भावलिंग सहित अंतरंग में प्रवेश करके आत्मतत्व का अन्वेषण करके संसार से मुक्त हो ऐसा उपदेश है। इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं।

सम्यक्त्वहीन नक्कट्, कर्मक्षय हेतुवेंदु नेगळ्वं तपदोळ्।
कर्मद केडु मदागदु केम्मने सुयिगुट्टियाक्किपर पंतक्कुं ॥34॥

अर्थ—भगवान जिनेश्वर द्वारा कहे हुए पदार्थों में यथार्थ विश्वास या रुचि पूर्वक श्रद्धान् इसको सम्यग्दर्शन कहते हैं। ऐसे सम्यक्त्व श्रद्धान् से रहित अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव का तप भाव बिना केवल द्रव्यलिंग धारण करके कठिन तपस्या करके भी कर्म की निर्जरा के लिये कारणभूत नहीं होता है। परन्तु वह अज्ञानी बहिरात्मा उसी से कर्म निर्जरा समझकर उसी का आचरण करता है क्या उससे कर्म की निर्जरा होगी ? अर्थात् नहीं होगी। वह बहिरात्मा अज्ञानी जीव चावल के कणरहित भुस को कूटकर उससे चावल की इच्छा करने वाले मूर्ख के समान व्यर्थ ही प्रयास करता है। क्या कभी भुस कूटने से चावल की प्राप्ति होगी ? नहीं। इस तरह अज्ञानी बहिरात्मा कितने भी कठिन से कठिन तप करे फिर भी सम्यक्त्व रहित तप से कर्म की निर्जरा होकर निजात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् सम्यक्त्व रहित तपस्या निष्फल है ऐसे समझना चाहिये ॥34॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में कहा है कि भगवान जिनेन्द्र द्वारा कहा हुआ यथार्थ तो तत्व है उसी तत्व पर सम्यक् श्रद्धानपूर्वक रुचि न रखने के कारण जीव ने सम्यक्त्वरहित होकर अनेक प्रकार के कठिन तप करके संसार में भ्रमण किया परन्तु तेरा प्रयास भुस में से चावल निकालने के समान व्यर्थ हो गया। इसलिए आचार्य कहते हैं कि हे प्राणी ! अगर तुझे संसार के बंधन से मुक्त होना है तो भगवान वीतराग देव द्वारा कहे हुए तत्व पर रुचि रख और उसकी आराधना कर। वह आराधना इस प्रकार है—

सुत्तत्थभावणा वा तेसिं भावाणमहिगमो जो वा।
णाणस्स हवदि एसा उत्ता आराहणा सुते॥

परमागम के अर्थ की भावना करना अथवा उपर्युक्त जीव आदि भावों का भले प्रकार ज्ञान करना व्यवहार ज्ञानाराधना है। संशय विपर्यय और अनध्यवसाय ये तीन मिथ्याज्ञान, सम्यग्ज्ञान आराधना में बाधक हैं अर्थात् यह जीव है या अजीव ? इस प्रकार विरुद्ध अनेक कोटियों का अवगाहन करने वाला ज्ञान संशयज्ञान, जीव को अजीव ही मानना व अजीव को जीव ही

मानना इस प्रकार विपरीत एक कोटि का निश्चय करने वाला ज्ञान विपर्यय ज्ञान और यह कुछ है इस प्रकार का ज्ञान अनध्यवसाय है। ज्ञान और सत्ता आत्मा में जब तक विद्यमान रहती है तब तक जीव ही है अथवा जीव-अजीव आदि है इस प्रकार की सम्यग्ज्ञान आराधना का उदय नहीं होता। किंतु जब संशय आदि मिथ्याज्ञान सर्वथा दूर हो जाते हैं उस समय सम्यग्ज्ञान आराधना का उदय होता है इसलिए जो पदार्थ जैसे हैं वैसे ही मानना सम्यग्ज्ञान आराधना है। भगवान जिनेन्द्रदेव ने परमागम की भावना अथवा उक्त जीवादि पदार्थों का अधिगम इस प्रकार सम्यग्ज्ञान आराधना के दो स्वरूप बतलाये हैं सो ठीक हैं क्योंकि जीव आदि पदार्थों का स्वरूप इतना गहन है कि बिना परमागम का अवलंबन किये, बिना सर्वज्ञ के दूसरा कोई जान ही नहीं सकता इसलिये मूलकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सर्वज्ञ प्रतिपादित आगम के अनुसार जीवादि पदार्थों का निश्चयात्मक ज्ञान सम्यग्ज्ञान आराधना है। अल्पज्ञानियों द्वारा रचे गये शास्त्रों के अनुसार जीव आदि पदार्थों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान आराधना नहीं बन सकता। अथवा जो वह परमागम की भावना है वही जीवादि पदार्थों का अधिगम हैं दोनों एक हैं क्योंकि जीवादि पदार्थों के स्वरूप वर्णन से भिन्न परमागम कोई पदार्थ नहीं और उसकी भावना जीवादि पदार्थों के समूह के अधिगम से भिन्न नहीं है। इसलिये परमागम की भावना से ही सम्यग्ज्ञान आराधना का स्वरूप मालूम पड़ जाता है तथापि मूलकार ने जो पुन: जीव आदि पदार्थों का अधिगम सम्यग्ज्ञान भावना है यह लिखा है वह स्पष्टता के लिये ही किया समझना चाहिये।

जो मनुष्य भगवान् जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित और नव पदार्थों के वर्णन से देदीप्यमान अद्भुत जैन सिद्धान्त की भक्तिपूर्वक भावना करता है अथवा सदा जीव आदि पदार्थों का भले प्रकार ज्ञान करता है वह समस्त निंदित कर्मों को त्यागकर अद्भुत अनंत सुख प्रदान करने वाली निश्चय सम्यग्ज्ञान आराधना को प्राप्त कर लेता है। सम्यग्दर्शन के बिना हे जीव ! कर्म की निर्जरा नहीं हो सकती है भले ही कितनी ही कठिन तपस्या करे। जब तक सम्यक्त्व सहित वैराग्य न हो तब तक कुटुम्ब को छोड़ना या नहीं छोड़ना बराबर ही है। इसलिये कोई जीव भाव से घर छोड़कर मुक्त हुआ उसको मुक्त कहो। और बांधव आदि कुटुम्ब तथा मित्र आदि से जो मुक्त हुआ उसको मुक्त मत कहो। इसलिए हे जीव ! ऐसा जानकर के आभ्यन्तर वासना को त्याग करके भगवान वीतराग के मार्ग पर तू श्रद्धान रख। उदाहरणार्थ देखो

बाहुबलि श्री वृषभदेव के पुत्र ने राज्य आदि को छोड़ा परन्तु मन में थोड़ी परिग्रह के कारण अर्थात् मान कषाय के कारण मन में कलुषित परिणाम रहा इसलिए वह बहुत से आतापन तप करके भी शीघ्र केवल ज्ञान नहीं पा सका। योगलीन् होकर साल भर खड़ा रहा जब भरत चक्रवर्ती ने आकर समझाया तब उनको निर्वाण प्राप्त हुआ।

भाव रहित मधु पिंगल मुनि ने संसार में भ्रमण किया। उस मुनि ने भाव आराधना को छोड़कर खूब तप किया और निदान बन्ध करके शरीर छोड़ा और निंद्य गति में गया।

वह कथा इस प्रकार है। इस भरत क्षेत्र में सुरम्य देश है। उसमें पोदनपुर नामक नगर है। वहाँ राजा त्रणपिंगल का पुत्र मधु पिंगल था। वह चारणयुगल नगर के राजा सुयोधन की पुत्री सुलसा के स्वयंबर में आया था। और वहाँ इस प्रकार राजा सगर भी आया था। सगर के मंत्री ने मधुपिंगल को कपट से सामुद्रिक शास्त्र का अवलम्बन लेकर धोखा दिया कि इनके नेत्र पिंगल हैं वह बिल्ली के समान है इसलिये जो इन्हें कन्या देगा। वह मरण को प्राप्त होगा। तब कन्या ने सगर के गले में माला डाल दी। मधुपिंगल के गले में नहीं डाली। तब मधु पिंगल ने विरक्त होकर दीक्षा लेली। बाद में उसने कारण पाकर सगर के मंत्री के कपट को जानकर क्रोध किया और अन्त में निदान किया कि मेरे तप का यह फल हो कि जन्मांतर में सगर के कुल का नाश करूँ। इस तरह से मन में निदानबंध करके मधु पिंगल मरकर महाकालासुर नाम का असुर हो गया। तब सगर मंत्री सहित मारने का उपाय सोचा तब क्षीरकदम्ब ब्राह्मण का पुत्र पर्वत उसको मिला तब पशु की हिंसा रूपी यज्ञ का सहायी होकर कहा कि सगर राजा को यज्ञ का उपदेश देकर यज्ञ कराओ। तेरे यज्ञ का सहायी मै होऊँगा। तब पर्वत ने सगर के पास जाकर यज्ञ कराया और उसमें अनेक पशु होम दिये। उस पाप से सगर सातवें नरक में गया और कालासुर उसका सहायक बन गया अर्थात् वह यज्ञ के कारण नरक में गया ऐसा बताया। इस प्रकार मधुपिंगल मुनि निदान बंध करके आगे जाकर पाप को भोगने वाला हो गया। इसलिये आचार्य कहते हैं कि हे योगी ! भाव बिगड़ने से आत्मसिद्धि को प्राप्त नहीं होता है। इसलिए भाव सहित तप कर्म की निर्जरा का कारण होता है उससे विशुद्ध मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।

जो पद की आकांक्षा करते हों उन्हें चाहिए कि, ज्ञान की आराधना करें क्योंकि, ज्ञान जीव का मूल स्वभाव है। किसी भी वस्तु की चिरकाल

तक कामना या आराधना करने से उसकी प्राप्ति एक दिन अवश्य होती है।

ज्ञान भावना का फल—

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनयश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मन्यते॥

ज्ञान की आराधना करने का या ज्ञान में मग्न होने का असली व उपयोगी फल यही है कि परोक्ष व अल्प श्रुतज्ञान हटकर सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञान का लाभ हो। यह फल अवनिश्वर है व आत्मा को पवित्र तथा सुखी बनाने का कारण होने से स्तुत्य है। तपश्चरण करना, धर्माचरण करना, ज्ञानाभ्यासादि करना, यह सब इसलिए कि अणिमा महिमा आदि ऋद्धि, सिद्धि व सम्पत्ति आदि की प्राप्ति हो, ऐसा मानना मोह का माहात्म्य है। जिन जीवों का मोह शांत होकर आत्मतत्व की परीक्षा प्राप्त नहीं हुई है वे इन पराधीन क्षणनश्वर दु:खमय संसार विषयों की अभिलाषा करते हैं। घर द्वार छोड़कर तपस्वी बनने पर भी उनकी यह अभिलाषा नष्ट नहीं हो पाती। इस मोह की महिमा का क्या ठिकाना है ? परन्तु यह खूब समझ लो कि चाहने से कुछ नहीं मिलता है।

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृत:।
अंगारवत् खलो दीप्तो झली वा भस्मी वा भवेतु॥

शास्त्रों का ज्ञान होने से वस्तुओं पर सच्चा प्रकाश पड़ता है और कर्म कलंक जल जाते हैं। इसलिए शास्त्र ज्ञान एक प्रकार की आग है। अग्नि में पड़ने से रत्न जैसे शुद्ध होकर चमकने लगता है वैसे ही निर्मोह हुए भव्य जीव शास्त्र ज्ञान में मग्न होकर कर्म कालिमा को जला डालते हैं और निर्मल होकर अथवा कर्मों से छूटकर प्रकाशमान होने लगते हैं। जिनकी विषय वासना नहीं छूटी है ऐसे मोही जीव शास्त्र ज्ञान में प्रविष्ट होकर भी आधे जले हुए अंगार की तरह चमकते तो हैं परन्तु मलिन ही बने रहते हैं। अन्त में जब पूरे जल चुकते हैं तो भस्म की तरह प्रकाश से भी शून्य निस्सार हो जाते हैं। ठीक ही है, मोही जीव यदि ज्ञान सम्पादन भी करें तो भी अन्त में विषयासक्त होकर अज्ञानी ही रह जाते हैं। नीच कर्म करने से वे मलिन दीखने लगते हैं व विवेकशून्य हो जाने से अंत में भस्म की भांति निस्सार दीख पड़ते हैं। परन्तु ज्ञानी उसी शास्त्रज्ञान के द्वारा पवित्राचरण रखता हुआ चमकता है व अंत में शुद्ध बन जाता है।

इसलिये हे योगी ! द्रव्यलिंग को छोड़कर भावलिंगी होकर और बाह्यपर वस्तु को त्याग कर अपने अंतरंग में आप ही लीन होकर अपना ही ध्यान करो। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र युक्त तू ही है। तब अपनी आत्मा से भिन्न बाह्य वस्तु आप ही आप अपने शरीर से भिन्न हो जाती है। जब तक बाह्य वस्तु अपनी आत्मा के साथ रहती है और जब तक आत्मा उसमें रागी होकर परिभ्रमण करती है तब तक रागी कहलाती है इसलिये रागद्वेष को अपनी आत्मा से भिन्न मानकर जब आप अपने अन्दर देखेगा तब सब कुछ अपने अन्दर ही मालूम होगा।

हे योगी! यदि हमेशा भगवान जिनेश्वर के चरण कमलों में भक्ति पूर्वक लीनता, इन्द्रियों के विषय आदि से विरक्ति, तपस्याके भाव को सम्हालने के लिये अनुकूल शक्ति, शरीर को ज्ञान के द्वारा आत्मा से अच्छी तरह भिन्न करके आत्मा स्वरूप को पूर्ण रूप से देखने की युक्ति और गुणों में प्रीति तुम्हारे अन्दर उत्पन्न हो जाय तो शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति होगी और यदि ये गुण तुम्हारे अन्दर व्याप्त नहीं होंगे तो मनुष्य जन्म लेने से क्या फायदा। इसलिए हे जीव ! तू सम्पूर्ण भाव विषय वासना, पर पदार्थ से विमुख होकर आत्म सन्मुख होजा, तब तुझे शुद्धात्म की प्रतीतिहोगी और मोक्ष की प्राप्ति होगी।

पल्लुं बायारूतिर लेल्ला ओदुगकनोदि तन्नय गुणदोळ्॥
निल्लुदव नोदुगिळियो दल्लदे पेरतल्लवेंबमुनि मुनिवृषभं ॥35॥

अर्थ—दांत और मुँह द्वारा बहुत से ग्रंथ पढ़े अर्थात् तर्क, व्याकरण छंद, अलंकार, नाटक, भरतशास्त्र, गणित, भेद, ज्योतिष, आगम न्यांग शास्त्रादि अनेकों शास्त्र रातदिन पढ़े परन्तु यह शास्त्र अध्ययन एक अज्ञानी तोते के रटने के समान है क्योंकि, तोते को जितना सिखाया जाता है उतना ही वह रटता है। परन्तु पढ़ लेने पर भी जीव ने ज्ञान नहीं प्राप्त किया इससे सम्यग्दर्शन पूर्वक आत्मा का अनुभव नहीं हुआ और आत्म साधन नही हुआ। जो योगी मुनि अपने आत्मानुभव में रमने वाले हैं वही मुनि मुनिवृषभ अर्थात् मुनियों में श्रेष्ठ है ॥35॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में बतलाया है कि बहिरात्मा अज्ञानी ने बहुत से शास्त्र पढ़े किन्तु उनका पढ़ना केवल तोते के समान ही है ऐसा समझना चाहिये क्योंकि इतने शास्त्र पढ़ने पर भी उसके हृदय में सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ और आत्मा को पहिचान न सका तब शास्त्र कंठस्थ करने से क्या लाभ ? केवल उनका पढ़ना शुष्क भेरी की आवाज के समान ही समझना चाहिये। कहा भी है कि—

गिरिय सुक्तिदरेनु हववुजोदिदरेनु पिरिपु लांछन तोटेट्रेनु।
अरियदे निज परमात्मनध्यानव नरिकगि बललि सन्तते॥

पहाड़ की प्रदक्षिणा करने से क्या है ? अनेक प्रकार के लाखों शास्त्रों का अध्ययन करने से क्या पण्डित बन गया ? अगर निज परमात्म को ध्यान के द्वारा नहीं जानता है तो उसका ज्ञान वैसा ही है जैसा कि एक सियारनी अपने बच्चे के साथ किसी किसान के गन्ने के खेत में पहुँच जाती है और खूब गन्ना चूसकर पेट भरती है तब एकदम चिल्लाती है परन्तु यह नहीं समझती कि अगर मैं चिल्लाऊँगी तो मेरे बच्चे किसान के हाथ में पड़ जायेंगे और मारे जायेंगे। जब वह चिल्लाती है तो किसान भागा आता है और वह सियारनी भाग जाती है और बच्चा उसके हाथ में फंस जाता है। इसी तरह इस संसारी आत्मा ने दुनिया के सारे पर पदार्थों को जानकर, उनका अनुभव कर ज्ञान प्राप्तकर सभी कुछ किया, चारों गतियों में भ्रमण किया, अनके प्रकार के कला कौशल आदि में निष्णात हुआ तो भी अपनी आत्मा के स्वभाव को नहीं जाना। इससे जो बाह्य तप, संयम आदि पालन किया, कठिन से कठिन तप किया इससे कर्म की निर्जरा आज तक तो न हो पायी। इसलिये हे योगी ! मनुष्य पर्याय धारण करके व अनेक बार संयम धारण करके पीछी कमण्डल धारण किया। इसलिये हे निर्बुद्धि जीव ! अपने आत्म स्वरूप को पहचान। यदि तू संसार से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना चाहता है तो बाह्य इन्द्रिय जन्य विषय भोग के मोह को त्याग कर यदि अपने अन्दर आप ही रत होकर अपने को देखेगा तो तू ही परमात्मा बन जायेगा। तू ही मोक्ष रूप है और अन्य कोई मोक्ष रूप नहीं है। इसलिए भावलिंगी बनकर आत्म स्वरूप का चिन्तन कर

ऐसा भी गुरु का उपदेश है।

नेट्टने निजशुद्धात्मनं निट्टिसियसत्मोक्ष मक्कुमेंदरियरिदवं ॥
निट्टेयिनुरे माळ्प तपं पोट्टंबडिदल्लियाक्कियरपंतक्कुं ॥36॥

अर्थ—ठीक एकान्त में बैठकर संपूर्ण पर वस्तु को अपनी आत्मा से दूर हटाकर शुद्धापयोग के द्वारा शुद्धात्म रत होकर जो अपने आपको देखता है उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है इस बात को निश्चय और श्रद्धान पूर्वक अर्थात निष्ठा पूर्वक न जानने वाला मूर्ख अज्ञानी जीव जो कठिन तप करता है वह व्यर्थ तप करता है। उस तप को ऐसा समझना चाहिये जैसे कि धान को कूटकर, चावल निकालकर फेंके हुए छिलके या भूसा को कूटकर उसके अंदर चावल को ढूंढने वाले मूर्ख शिरोमणि हों अर्थात् अध्यात्म रहित जिनका तप है वह तप निष्फल है ऐसा समझना चाहिये।

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि जो योगी सम्यक्त्व सहित श्रद्धानपूर्वक एकांत स्थान में बैठकर संपूर्ण आत्मा से परवस्तु को भिन्न मानकर और अपनी आत्मा में रत होकर वीतराग सहजानंद समरसी बन गया और निर्विकल्प समाधिरूप अपने अहं में रत होकर शुद्धोपयोग पूर्वक ध्यान करता है वही ज्ञानी जीव मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। इस बात को न जानने वाले बहिरात्मा, अध्यात्म शून्य, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव, भूसे के ढेर को कूटकर चावल देखने वाले मूर्ख के समान है। जो मूर्ख अध्यात्म से शून्य होकर केवल कठिन बाह्य तप करने वाले द्रव्यलिंगी हैं उन्हें मोक्ष की सिद्धि कभी नहीं हो सकती है।

आत्म ज्ञान रहित तप करने वाले योगियों को उनकी पाँचों इन्द्रियाँ पंचाग्नि के समान हैं और अध्यात्म सहित होकर तप करने वाले आत्म ज्ञानी की पांचों इन्द्रियाँ पंचरत्न के समान हैं ऐसा समझना चाहिये। इसलिये हे योगी ! आत्मज्ञान सहित तप करो। आत्मज्ञान रहित तप सदा दीर्घ संसार और दुःख का कारण बनता है। इससे तुझे संसार में अनेक दुःख सहन करना पड़ेगा।

प्रश्न—आत्मा का परिचय कैसे हो ?

समाधान–

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम्॥

उत्पत्ति, स्थिति, नाश इन तीनों धर्मों का सतत रहना वस्तुओं का सामान्य लक्षण कहलाता है। इन्हीं सर्व वस्तुओं के अंतर्गत जीव भी एक द्रव्य या तत्व है। उसका भी सामान्य स्वभाव वही है जो बाकी सर्व वस्तुओं का है। परन्तु जीवों का जो निजी तत्व है उसी के कल्याण के लिये सारा घटाटोप है। शास्त्रों का उपदेश व व्रत, तप, दान, धर्म ये सब कर्म केवल जीव के कल्याणार्थ ही कहे व किये जाते हैं। इसलिये जीव की निराली पहचान होना बहुत ही आवश्यक कार्य है। उसके कल्याण मार्ग उसके जानने पर ही माने जा सके हैं। तब ?

जीव का स्वभाव ज्ञान है। जीवों को जितने दुःख, अशांति, उद्वेग, क्षोभ होते दिखाई देते हैं वे सब राग द्वेष के वश होने से व अज्ञानी रहने से। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ पर रागद्वेष की कमी व ज्ञान की वृद्धि दीख पड़ती है वहीं वहीं सुख-शांति व अनुद्वेग देखने में आता है। वस्तु में उद्वेग व अशांति न रहना यही उस वस्तु का मूल स्वभाव समझना चाहिये। क्षोभ व अशांति अथवा उथल-पुथल होना विजातीय संयोग का कार्य है इसलिए क्षोभ रहित शांत होकर ठहरना वस्तु का मूल स्वभाव समझा जाता है। रागद्वेष रहित शुद्ध ज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मा की क्षोभ-अशांति मिटती है और शांति प्राप्त होती है। रागद्वेष की अवस्था जैसे-जैसे मंद होती है वैसे-वैसे तत्वज्ञान की वृद्धि होती है और वैसी ही वैसी जीवों को शान्ति प्राप्त होती है। इसलिये रागद्वेष का पूर्ण अभाव, ज्ञान की पूर्णता होना जिन स्वभाव व पूर्ण सुख-शांति प्राप्त होने का कारण मान लेना, अनुभव के विरुद्ध न होगा।

वस्तु के स्वभाव की प्राप्ति होना ही अविनाशी अवस्था की प्राप्ति है। वह अवस्था फिर कभी नहीं छूटती है।

ओदुवुदु तन्न नरियद ल्कोदुवुदिह परके हितमनाचरिपडे ता-
नोदुवुदल्लदोड दुगिकि योदिदिवोलोदिनक्के पंडितनक्कु॥37॥

अर्थ—स्व पर आत्म ज्ञान के लिये, इह पर साधन के लिये और सच्चे आचरण के लिये शास्त्र का पठन, अभ्यास करना आवश्यक है। अगर वह शास्त्र का पठन और अभ्यास स्व पर आत्मा को जानने के लिये या सच्चा चारित्र धारण करने के निमित्त नहीं होता है तो उसे ऐसा समझना चाहिए कि तोते का पठन पाठन है। जितना तोता रटता है उतना ही बोलता है उससे अधिक नहीं। केवल शास्त्र के श्लोक को पढ़कर या रटकर तोता विद्वान तो कहला सकता है परन्तु उसके शास्त्र का पठन उसके आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिये नहीं होता है। इसी तरह बहिरात्मा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि का शास्त्र पठन केवल बाहरी ज्ञान के लिये निमित्त कारण बनता है और वह ज्ञानी तो जरूर कहलाता है परन्तु वह आत्मज्ञानी नहीं कहलाता है। केवल शास्त्र का ज्ञानी कहलाता है। हजारों शास्त्र पढ़कर भी वह आत्म ज्ञान से शून्य रहकर संसार में दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता हुआ अनेक प्रकार के दु:ख सहता है। ॥37॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में कहा है कि स्व-पर ज्ञान के लिये शास्त्र का पठन किया जाता है। अगर वह शास्त्र स्व पर आत्मज्ञान के लिये निमित्त कारण नहीं होता, अर्थात् वह शास्त्र आत्मज्ञान करने का निमित्त कारण नहीं होता तो तोते के ज्ञान के समान केवल श्लोक रटकर दुनिया को सुनाने के समान ही समझना चाहिए। कहा भी है कि—

छंद शास्त्र कंठस्थ है, पढ़ लिये सारे वेद।
बिन वैराग्य मुक्ति नहीं, कोटि करो अश्वमेध॥

छंद शास्त्र, गणित, अलंकारादि कंठस्थ हैं सारे वेद भी पढ़ लिये और करोड़ों अश्वमेधादि यज्ञ भी किये परन्तु जब तक वैराग्य नहीं आया तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

तर्क व्याकरण न्याय तथा धर्म शास्त्रादि पढ़कर शास्त्र की परीक्षा देकर पण्डित पद प्राप्त किये हुए बहुत विद्वान लोग हैं किन्तु अब शास्त्र का ज्ञान स्व पर के कल्याण के लिये उपयोग नहीं किया जाता तो वह शास्त्र अपने लिये और दूसरों के लिये शास्त्र न होकर शस्त्र बन जाता है। कहा भी है कि—

शास्त्रं बंदोडे शांति सैरने निगर्वनीति मैल्वातुमु-।
क्तिस्त्री चिंतें निजात्मचिंतें निलवेळ्कतंल्ल्दाशास्त्रदिं॥
दुस्त्री चिंतने दुर्मुख कलहमु गर्व मनगोडडा।
शास्त्रं शस्त्र मे शास्त्रि शस्त्रिनकला ? रत्नाकराधीश्वरा॥

हे रत्नाकराधीश्वर ! अर्थात् हे सम्यगदर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसे रत्नत्रय के अधिपति जिनेन्द्र भगवान ! संपूर्ण शास्त्र का ज्ञान होने के बाद समाधान, सहनशीलता, अहंकार रहित होना, हिंसारहित धर्म के प्रति रुचि रखना, अत्यंत मधुर भाषी होना, हमेशा मोक्ष की चिंता और स्वात्मचिंतादि में स्थिर होकर रहना चाहिये। अगर इस प्रकार न रहकर उस शास्त्र से दुष्ट स्त्रियों की चिंता, क्रोधादि कषायों से विकार को प्राप्त हुआ मुख तथा झगड़ा अहंकारादिक भावनाएँ मन में आक्रमण करने के लिये उठें तो वही शास्त्र शास्त्र रूप न होकर शस्त्र अर्थात् आयुध के समान होता है और वह शास्त्री शस्त्रधारी कहलाकर स्व पर का घात करता है।

आचार्य शास्त्र अध्ययन का फल बतलाते हैं—

पर-तत्ती-णरवेक्खो दुट्ठ-वियप्पाण णासण-समत्थो।
तच्च-विणिच्छय-हेदू सज्झाओ झाण-सिद्धियरो॥

स्वाध्याय, तप परनिन्दा से निरपेक्ष होता है, दुष्ट विकल्पों को नष्ट करने में समर्थ होता है तथा तत्व के निश्चय करने का कारण बनता है और ध्यान की सिद्धि करने वाला होता है। सुष्ठु रीति से पूर्वापर विरोधरहित अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं अर्थात् आत्मा के हित के लिये अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं। स्वाध्याय परनिन्दा से निरपेक्ष होता है, क्योंकि स्वाध्याय में लीन हुए मुनि का मन और वचन स्वाध्याय में लगा होता है इसलिये वह किसी की निन्दा नहीं करता। तथा स्वाध्यय करने से रागद्वेष और आर्त, रौद्र ध्यान रूपी दुष्ट विकल्प नष्ट हो जाते हैं। पुत्र, स्त्री, धन धान्य आदि चेतन-अचेतन बाह्य वस्तुओं में कि ये मेरे हैं इस प्रकार के

परिणामों को संकल्प कहते हैं, और 'मैं सुखी हूँ' मैं दुःखी हूँ।' इस प्रकार चित्त में होने वाले क्षोभ विक्षोभ रूप परिणामों को विकल्प कहते हैं। स्वाध्याय करने से उपरोक्त दुष्ट संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि स्वाध्याय करने वाले का मन स्वाध्याय में ही लगा रहता है इसलिये उसका मन इधर-उधर नहीं जाता। स्वाध्याय करने से तत्वों के विषय में होने वाला संदेह नष्ट हो जाता है और धर्म तथा शुक्ल ध्यान की सिद्धि होती है। जो मुनि अपनी पूजा प्रतिष्ठा की अपेक्षा न करके, कर्म शोधन के लिये जिनशास्त्रों को भक्ति पूर्वक पढ़ता है, उसका श्रुतलाभ सुखकारी होता है। आदर, सत्कार, प्रशंसा और धन प्राप्ति की वांछा न करके ज्ञानावरण आदि कर्म रूपी मल को दूर करने के लिये जो जैन शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता है, उसे स्वर्ग और मोक्ष का सुख प्राप्त होता है। जो पण्डिताभिमानी लौकिक फल की इच्छा रखकर शास्त्रों की सेवा करता है और साधर्मीजनों के प्रतिकूल रहता है उसका शास्त्रज्ञान भी व्यर्थ है।

जो विद्या के मद में गर्विष्ट हो अपने को पण्ड़ित मानता है और प्रशंसा, पूजा, धन, भोजन, औषधि वगैरह के लाभ की भावना से जैनशास्त्रों को पढ़ता तथा पढ़ाता है और सम्यग्दृष्टि श्रावक तथा मुनियों का विरोधी रहता है उसका शास्त्रज्ञान भी विष के तुल्य हैं क्योंकि वह संसार के दुःखों का ही कारण है। कहा भी है–'ज्ञान घमण्ड को दूर करता है'' किन्तु जो ज्ञान को ही पाकर मद करता है उसका इलाज कौन कर सकता है ? यदि अमृत ही विष हो जाये तो उसकी चिकित्सा कैसे की जा सकती है।

जो पुरुष रागद्वेष से प्रेरित होकर लोगों को ठगने के लिये युद्धशास्त्र और कामशास्त्र को पढ़ता है उसका स्वाध्याय निष्फल है। क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्री रागद्वेष आदि के वशीभूत होकर दुनिया के लोगों को कुमार्ग में ले जाने के लिये युद्ध में प्रयुक्त होने वाले अस्त्र शस्त्रों की विद्या का अभ्यास करता है, स्त्री पुरुष के संभोग से सम्बन्ध रखने वाले कोकशास्त्र, रतिशास्त्र, भोगशास्त्र, काम-क्रीड़ा आदि कामशास्त्रों को पढ़ता है उसका पढ़ना पढ़ाना

व्यर्थ है अर्थात् जो शास्त्र मनुष्यों में हिंसा और काम की भावना को जागृत करते हैं उनका पठन पाठन व्यर्थ है। ऐसे ग्रन्थों के स्वाध्याय से आत्महित नहीं हो सकता। इसी तरह लोगों को ठगकरधन उपार्जन करने की दृष्टि से सामुद्रिकशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र और वैद्यकशास्त्र को भी पढ़ना व्यर्थ है। सारांश यह है कि जिससे अपना और दूसरों का हित किया जा सके वही स्वाध्याय है। जो अपनी आत्मा को इस अपवित्र शरीर से निश्चय से भिन्न तथा ज्ञायकस्वरूप जानता है वह सब शास्त्रों को जानता है। स्वाध्याय का यथार्थ प्रयोजन तो अपने शरीर में बसने वाली आत्मा को जान लेना ही है। अत: जो यह जानता है कि सात धातु और मलमूत्र से भरे इस शरीर से मेरी आत्मा वास्तव में भिन्न है, तथा मैं शुद्ध चिदानन्द स्वरूप परमात्मा हूँ, केवल ज्ञान, केवलदर्शन मेरा स्वरूप है, वह सब शास्त्रों को जानता है। कहा भी है। जो श्रुतज्ञान के द्वारा इस केवल शुद्ध आत्मा को जानता है उसे लोक को जानने, देखने वाले केवली भगवान् श्रुतकेवली कहते हैं। जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है, उसे जिन भगवान ने श्रुतकेवली कहा है। क्योंकि पूरा ज्ञान आत्मा है अत: यह श्रुतकेवली है। जो ज्ञान स्वरूप आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता, वह आगम का पठन-पाठन करते हुए भी शास्त्र को नहीं जानता।

इस कलिकाल में ध्यान नहीं, ऐसा कहने वाले का निषेध करते हैं।

ध्यानं पुसियेंबवन ज्ञानि बहिर्मुखननंतसंसारियवं।
हीननातिकष्ट मुक्ति स्थानक्के विरुद्धनप्पवं बहिरात्मं ॥38॥

अर्थ—इस कलिकाल में ''ध्यान नहीं है'' ऐसा कहने वाले अज्ञानी हैं, आत्मस्वरूप से बहर्मुख हैं, अनन्त संसारी हैं, हीन हैं, कष्ट से जीवन को बिताने वाले हैं, मोक्ष स्थान के विरुद्ध होकर रहने वाले बहिरात्मा हैं ॥38॥

विवेचन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि इस कलिकाल में ''ध्यान नहीं है' ऐसा कहने वाले महा नास्तिक हैं, मिथ्यादृष्टि, बहिरात्मा, अनन्त आपत्ति को उठाने वाले, अपने जीवन को अति दु:ख से बिताने वाले

तथा दीर्घ संसारी हैं और पाप के योग से अनेक निंद्य पर्याय धारण करने वाले महापापी हैं ऐसा आचार्य ने कहा है। नागसेन मुनि ने ध्यान का समर्थन करते हुए अपनी तत्वसार टीका में लिखा है कि–

संकाकंखागहिया विसयवसत्था सुमग्गयब्भद्ठा।
एवं भणंति केई णहु कालो होइ झाणस्स॥

कितने ही मानव केवल शास्त्रों को जानकर व चर्चा वार्ता करके ही संतोष मान बैठते हैं। वे आत्मध्यान करने का पुरुषार्थ नहीं करते हैं। जब कोई कहता है कि आप आत्मध्यान क्यों नहीं करते, तब ऐसा कह देते हैं कि यह दुखमा पंचमकाल है, इसमें मोक्ष नहीं हो सकता है अतएव ध्यान नहीं बन सकता है। ऐसा कहने वाले प्रमादी मानव वैसे ही हैं जिनको रत्नत्रयमई धर्म का पूर्ण श्रद्धान नहीं हुआ है, जिनके भीतर आत्मा तथा परमात्मा के अस्तित्व में भीतर से शंका है, या जिनके भीतर से विषय सुख की आकांक्षा या तृष्णा नहीं मिटी है, जो आत्मसुख में श्रद्धा नही रखते हैं, विषय सुख को ही ग्रहणयोग्य माने हुए हैं तथा जो विषयभोगों की सुन्दर सामग्री एकत्र करते रहे हैं व विषयभोगों में, खाने पहनने आदि में लीन रहते हैं।

वास्तव में ऐसे मानव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हैं। वे ऊपर से अपने को धर्मात्मा मान बैठते हैं या ''हम तत्वज्ञानी हैं'' ऐसा अहंकार रखते हैं, परन्तु वे वास्तव में तत्वज्ञान से शून्य केवल विषयासक्त प्रमादी हैं। जिसको सम्यग्दर्शन का लाभ होगा, वह सदा ही स्वानुभव का प्रेमी रहेगा और गृहस्थावस्था में भी जब अवसर मिलेगा तब स्वानुभव के लाभ के लिये आत्मा का ध्यान करेगा। इस काल में भी इस काल के योग्य ध्यान हो सकता है। प्रमाद, कार्य की सिद्धि का विरोधी है। विषयभोगों की आसक्ति ध्यान में बाधक है। जो सच्चा सम्यक्त्वी होगा, वह नि:शंकित व नि:कांक्षित अंग का पालन करने वाला होगा। वह आत्मा की प्रभावना करने का उद्योगी होगा अतएव वह कभी ऐसा वचन कहकर अपने को व दूसरों को धोखा नहीं देगा।

तत्वानुशासन में श्री नागसेन मुनि ने कहा है–

ये आहुर्नहि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति।
तेऽर्हन्सतनभिज्ञत्वं ख्यापयंत्यात्मनः स्वयं ॥82॥

जो ऐसा कहते हैं कि यह काल ध्यान करने योग्य नहीं है, वे अपने कथन से प्रकट करते हैं कि वे श्री जिनेन्द्र के मत को नहीं जानते हैं।

धर्म ध्यान हो सकता है–

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुरलोयं।
तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहिं णिव्वाणं॥

आज भी इस पंचमकाल में मध्य लोकवासी मानव आत्मा का ध्यान कर स्वर्गलोक को जा सकते हैं। इस पंचमकाल में तीन शुभ संहनन नहीं है अर्थात् मानवों की हड्डी वज्रवृषभ नाराच, वज्र नाराच, संहनन रूप नहीं है। तीन उत्तम सहंननधारी ही श्रेणी पर चढ़कर आठवें गुणस्थान से ऊपर जा सकते हैं। आजकल तीन हीन संहनन है इसलिए सातवें गुणस्थान तक सम्भव है। अप्रमत्त गुणस्थान तक पूर्ण धर्मध्यान है। आगे शुक्ल ध्यान है सो आजकल नहीं है। धर्मध्यान में आत्मा का ध्यान भली प्रकार किया जा सकता है। चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान से धर्म ध्यान या आत्म ध्यान हो सकता है। इस धर्म ध्यान में शुभोपयोग मंद कषाय के उदय से होता है। इससे विशेष पुण्य का बंध हो सकता है और यह जीव स्वर्ग में उत्तम देव हो सकता है। वहाँ से चौथे काल में उत्पन्न होकर मानव भाव से तप साधन कर कर्म का क्षय कर निर्वाण का लाभ कर सकता है।

इसलिए आज भी परम्परा निर्वाण का भाजन वही होगा जो निश्चिन्त होकर आत्म ध्यान का अभ्यास करेगा अतएव प्रमाद को दूर कर निर्विकल्प तत्व जो निज शुद्ध आत्मा है उसको शुद्ध निश्चयनय के द्वारा लक्ष्य में लेकर उपयोग को भावना के द्वारा स्थिर करने का या स्वानुभव के लाभ का यत्न करना जरूरी है। जिससे स्वात्मानन्द का लाभ हो सके। सम्यक्त्वी कभी भी

प्रमादी नहीं होता है, वह सदा निज सुख के स्वाद का प्रयत्न करता रहता है। श्री नागसेन मुनि भी कहते हैं–

अत्रेदानीं निषेधंति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्विवर्तिनाम ॥83॥
यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तत्राधस्तन्निषेधकं ॥84॥
ध्यातारश्चेत्र सन्त्यद्य श्रुतसागरपारगाः।
तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः ॥85॥
चरितारो न चेत्सन्ति यथाख्यातस्य संप्रति।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरन्तु तपस्विनः ॥86॥
सम्यग्गुरूपदेशेन समभ्यस्यन्ननारतं।
धारणासौष्ठवाद्ध्यान-प्रत्ययानपि पश्यति ॥87॥
यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि।
तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्तिनाम् ॥88॥

श्री जिनेन्द्र ने इस पंचम काल में यहाँ केवल शुक्ल ध्यान का अभाव बताया है। उपशम-क्षपक श्रेणियों के नीचे रहने वालों को धर्म ध्यान का होना निषेध नहीं किया है। वज्रकायधारियों को ध्यान होता है, ऐसा आगम में कहा है। वह वज्रकायधारियों की अपेक्षा से कहा है नीचे के तीन संहनन वालों की अपेक्षा से नहीं कहा है। यद्यपि आजकल श्रुतकेवली के समान आत्मा के ध्याता मुनि नहीं हो सकते, तो भी क्या अल्प श्रुत के ज्ञाताओं को अपनी शक्ति के अनुसार ध्यान न करना चाहिए ? अवश्य ही करना चाहिए।

यद्यपि आजकल यथाख्यात चारित्र के आचरण करनेवाले नहीं हो सकते, तो क्या दूसरे तपस्वियों को यथाशक्ति चारित्र नहीं पालना चाहिए? अवश्य पालना चाहिए। जो कोई साधक के उपदेश से भली प्रकार आत्म ध्यान का अभ्यास निरन्तर करता रहेगा और उसकी धारणा उत्तम हो जायेगी तो वह अनेक चमत्कारों को भी देख सकेगा।

जैसे बड़े-बड़े शास्त्र भी अभ्यास के बल से बुद्धि से समझे जाते हैं, वैसे ही अभ्यास करने वालों का ध्यान भी स्थिर हो जाता है।

इसलिए पुरुषार्थ करके आत्म ध्यान का अभ्यास निरन्तर करना योग्य है।

आत्म ध्यान की प्रेरणा-

तम्हा अब्भसउ सया मुत्तूणं रायदोसवा मोहो।
झायउ णियअप्पाणं जइ इच्छइ सासये सुक्खं॥

इस काल से भले प्रकार धर्म ध्यान हो सकता है ऐसा निश्चय करके हर एक श्रद्धावान गृहस्थ या साधु को, नर या नारी को उचित है कि अपनी ही आत्मा के भीतर विराजमान जो सच्चा आत्मिक अविनाशी सुख है उसका स्वाद लेने का उत्साह करे। परम धर्मानुरागी होकर अपने ही शुद्धात्मा को और उपयोग को स्थिर करने का या स्वानुभव करने का अभ्यास करे। आत्मा के ध्यान की प्राप्ति के लिये ज्ञान व वैराग्य की जरुरत है। आत्मा व अनात्मा का सच्चा भेद विज्ञान होकर यह सम्यग्ज्ञान होना चाहिए कि मैं आत्म द्रव्य हूँ, सबसे भिन्न एकाकी हूँ, अपने ज्ञान आनन्द आदि गुणों का अखण्ड पिंड हूँ। रागादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नोकर्म से मैं भिन्न हूँ, सिद्ध के समान शुद्ध हूँ।

वैराग्य यह होना चाहिए कि मुझे सिवाय निर्वाण के और किसी क्षणिक पद की, इन्द्र चक्रवर्ती आदि पद की लालसा नहीं है। संसार-शरीर-भोगों से पूर्ण वैराग्य भाव होना चाहिए। जब पर को पर जान लिया तब पर से ज्ञानी को राग कैसे हो सकता है ? ज्ञानी निज आत्मा के दुर्ग को ही अपना निवास स्थान व उत्तम ठिकाना जानता है। यह ज्ञान वैराग्य गृहस्थ अविरत सम्यक्त्वी में भी होता है। वह घर में जल में कमल के समान अलिप्त रहता है। कषायों के उदय को रोग जानकर आत्म बल की कमी से गृहस्थ के न्यायपूर्वक भोगों को भोगता है, परन्तु लक्ष्य आत्मानन्द के भोग

का बना रहता है। जैसे कोई छात्र विद्या पढ़ना नहीं चाहता हो, क्रीड़ा का रुचिवान हो तथापि माता-पिता के दबाव से विद्या पढ़ता हो, परीक्षा में उत्तीर्ण होता हो। उसी तरह सम्यक्त्वी आत्मा के भीतर रहने का प्रेमी होता है, तो भी कषाय के वश में होने से रुचि न होने पर भी उसे गृहस्थ के सब काम उत्तम प्रकार से करने पड़ते हैं। जैसे बालक अवसर पाते ही खेल में लग जाता है क्योंकि पढ़ने की अपेक्षा खेलने की उसे गाढ़ रुचि है, उसी तरह सम्यक्त्वी अवसर पाते ही आत्मा के ध्यान में लग जाता है।

प्राणी को रागद्वेष मोह को त्यागने की जरूरत है। उसको व्यवहारनय को गौण करके निश्चय नय की मुख्यता से देखने का अभ्यास करना योग्य है। इसनिश्चय दृष्टि से सर्व ही सिद्ध व संसारी जीव एक समान शुद्ध द्रव्य दिखलाई पड़ेंगे। तब रागद्वेष मोह कोई निमित्त ही नहीं रहेगा। समभाव का अभ्यास रखना ही ध्यान का साधन है। दु:ख व सुख के कारण मिलने पर भी ध्यानी को कर्मों का उदय विचार कर समभावी रहना योग्य है।

पापी को परमात्म ध्यान नहीं हो सकता है–

पापिष्ठनहंकारि कुरूपि कृतघ्नं विवेक विकलं चपलं॥
कोपियाविचारि येनिसिर्पा पुरुषं ब्रह्मदल्लि निल्लनमोघं॥39॥

पापिष्ठ, अहंकारी, कुरुपी, कृतघ्न, विवेकहीन, क्रोधी, अविचारी अर्थात् विचारशून्य आदि पुरुष को बहिरात्मा समझना चाहिए। ऐसा महापापी दुराचारी मिथ्यादृष्टि परमात्मा का स्वरूप स्थिर कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है। यह भगवान जिनेन्द्र देव का वचन है यह वचन कभी भी असत्य नहीं हो सकता है।

विवेचन—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने यह समझाया है कि अत्यन्त पापी अहंकारी कुरूपी कृतघ्न विवेकहीन दुराचारी कषाय से युक्त क्रोधी आदि पापी पुरुष को आत्म ध्यान नहीं हो सकता, ऐसा पूर्वाचर्यों ने कहा है। बहिरात्मा को ध्यान की सिद्धि नहीं होती है। बहिरात्मा अपने शरीर और शरीर सम्बन्धी पर वस्तु को ही अपनी आत्मा मानता है और अनेक प्रकार के पाप

करता है, दुराचार करता है, सद्धर्म-सत्य शास्त्र और सच्चे गुरु की निंदा करता है। अपने द्वारा ग्रहण किये हुए खोटे मार्ग को ही सुमार्ग समझता है। और एकान्तवाद की पुष्टि करता, धर्मात्मा लोगों का तिरस्कार करता है। सदा खोटे ध्यान में लीन रहता है, धर्म-कर्म को नहीं समझता है, उसका मन हमेशा पाप मार्ग में ही भ्रमण करता है। कहा भी है कि—

वपुष्यात्ममति: सूते बंधुवित्तादिकल्पनम्।
स्वस्य संपदमेतेन मन्वानं मुषितं जगत्॥

शरीर में जो आत्म बुद्धि है सो बन्धु धन इत्यादिक की कल्पना उत्पन्न करती है तथा इस कल्पना से ही जगत को अपनी संपदा मानता हुआ ठगा गया है।

हे योगी ! तू दुर्ध्यान तथा विषय कषाय को छोड़ कर अपनी अन्तरात्मा के सम्मुख हो जा। जब तक विषयवासना से विमुख होकर आत्म-सम्मुख न होगा तब तक अपने निज शुद्ध परम वीतराग आत्मानन्द का अनुभव नहीं कर सकता। विषय कषाय के फन्दे में फंसकर तूने ज्ञान शून्य होकर संसार में परिभ्रमण किया। अब तू अपने मन में समझ ले और बाह्य परिणति को छोड़कर अन्तर्मुख बन। कहा भी है कि—

आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासीर्दुरात्मा चिरं।
स्वात्मा स्या: सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मन:॥
आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मक:।
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसिलसन्नध्यात्ममध्यात्मना॥

अरे जीव ! तू अपना नाश करने वाले निंद्य आत्म चरित्रों को धारण करके दुष्ट या नीचजन बन रहा है। तुझे अपने स्वरूप का कुछ पता ही नहीं रहा कि मैं कौन और कैसे हूँ ? अब तू अपना कर्म ऐसा पवित्र कर जिससे आत्मा सुखी हो और तुझे अपनी पहिचान हो, जिससे कि बहिरात्मा से अंतरात्मा बन जाय। जब तू ऐसा पवित्र हो जायेगा तो तेरा अनन्त सुखकारी केवलज्ञान गुण अपने आप प्रगट होगा और उस सहज में ही तू आत्मा की परम पवित्र दशा को प्राप्त हो जायेगा, जिसे कि परमात्मपद कहते हैं। उस समय अवश्य

आत्मीय परम सुख प्रगट होगा, जो कि किसी के पराधीन नहीं है, किन्तु अपने ही आधीन जिसकी उत्पत्ति है। उसी समय तू असली शुद्ध आत्मा का अनुभव करता हुआ अपने आप में मग्न होकर अत्यन्त सुख तथा पवित्र ज्ञान के साथ प्रकाशित होता हुआ दिखाई देगा। परन्तु यह सब आनन्द तब तक नहीं मिल सकता, जब तक कि तू अपने शरीर से प्रीति कर रहा है। शरीर छूट जाने पर ही ऐसा परम पवित्र सिद्ध स्वरूप प्रगट होता है। शरीर उस दशा को कभी प्राप्त नहीं होने देता और शरीर से जब तक प्रीति लग रही है तब तक शरीर कैसे छूट सकेगा ?

समय मत चूको ! देखो–

अनेन सुचिरं पुरा त्वमिह दासवद्धाहित-
स्ततो ऽ नशनसामिभक्तरसर्व जनादिक्रमैः।
क्रमेण विलयावधि स्थिरतपोविशेषैरिदं,
कदर्थय शरीरकं रिपुमिवाद्य हस्तागतम॥

इसी शरीर ने पहिले चिरकाल पर्यन्त तुझे इस संसार में सेवक के तुल्य बनाकर भ्रमाया है क्या तुझे यह बात याद नहीं आती ? जब इसने तुझे इतना कष्ट दिया है तो तू भी आज इससे पूरा-पूरा बदला निकाल ले। आज यह तेरे हाथ में आ चुका है। जब तक इसका नाश न हो तब तक तू इसे खूब क्षीण कर अथवा तू इसे इस तरह कष्ट दे जिससे नष्ट न होकर यह कृश होता रहे किन्तु अपने से बलवान न हो सके। यदि यह बलवान हुआ तो फिर इन्द्रिय तथा मन के द्वारा तुझे विषय की कीच में फँसा देगा, जिससे कि तुझे चिरकाल तक इसके आधीन रहना पड़ेगा।

इसलिऐ हे योगी ! तू इस बाह्य विषय वासना से मुख मोड़कर अपनी अंतरात्मा बन जा।

जब आचार्य कहते हैं कि हे आत्मन् ! ज्ञान योगी के हृदय में ही रहता है, उन्हीं को उसका अनुभव होता है तथा सुख और शान्ति का अनुभव वे ही करते हैं।

ज्ञानिगल हृदयदोळसले तानिर्कुमनंत सौख्यमयमदु शुद्ध।
ज्ञानमदु ज्ञातमागल्ता नेय्दु गुमखिल सुख मनल्ल दोडिल्लै ॥40॥

अर्थ—ज्ञानी के हृदय में अनन्तसुखमय अत्यन्त सुन्दर निर्मल परम विशुद्ध ज्ञान हमेशा सुख सागर के रूप में स्थिर है। स्वानुभव से वह सुख उनको प्राप्त होता है। अगर वह योगी स्व और पर का ज्ञान करके अपने अन्दर देखेगा तो वह सम्पूर्ण सुख को प्राप्त कर सकता है। अगर बाह्य विषय या बहिरात्मा के रूप में परिभ्रमण करेगा तो वह कभी भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता है।

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि वह सुख अनन्त गुण के धारण विशुद्ध आत्म ज्ञानी के हृदय में हमेशा वास करता है। बिना ज्ञानी के वह सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अगर वह ज्ञानी अपनी आत्मा के द्वारा देखेगा तो अनन्त सुख को प्राप्त हों सकता है। अगर वह अपने ज्ञान से विमुख होकर विषय सुख के सम्मुख होगा तो उस सुख की प्राप्ति करोड़ वर्षों तक कठिन तप करने पर भी नहीं हो सकती है क्योंकि बाह्य तप करने वाले बहुत से मुनिराज संसार में परिभ्रमण करते रहे और अन्त में इंद्रिय विषय में लालायित होकर अपने आत्म सुख से वंचित रहे। अन्त में निदान बन्ध करके दीर्घ संसारी बन गये। ज्ञान और तपश्चर्या का फल तभी प्राप्त हो सकता है जब लोक व्यवहार की इच्छा छोड़ दे क्योंकि जिस आत्मा ने सम्पूर्ण शास्त्रों का अभ्यास किया और बहुत समय तक बड़े-बड़े ग्रन्थ पढ़े परन्तु यदि शास्त्र ज्ञान का और घोर तपों का फल वह ऐसा चाहने लगे कि इससे अनेक सुखों की सामग्री प्राप्त हो तथा लोगों में मेरा आदर बढ़ जाय तो कहना चाहिये कि तेरा हृदय तत्व ज्ञान से वंचित ही रहा। तू उस सुन्दर वृक्ष के फल न चाह कर केवल फूलों की कच्ची कलियों को तोड़ डालना चाहता है। इसलिए अरे मूर्ख! ऐसा करने से तुझे इसका असली फल कैसे मिल सकता है। इसलिए हे योगी। अगर असली मोक्ष फल की इच्छा करता है तो तुझे लोकव्यवहार की वाँछा छोड़नी ही पड़ेगी। कहा भी है कि—

तथाश्रुतमधीत्य शश्वदिह लोकपङ्क्तिं बिना।
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः॥
कषायविषयद्विषो विजय से यथा दुर्जयान्।
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपःशास्त्रयोः॥

लोक व्यवहार व वंचना छोड़ दे। लोक तो अज्ञानी हैं और तू विवेकी कहलाता है। यदि अब भी तुझसे वंचना व विषयाभिलाषा नहीं छुटी तो तेरे विवेक व तप को धिक्कार हो। अब तो तू ऐसी तरह शास्त्र अध्ययन कर और शरीर को भी तपश्चरण द्वारा ऐसा कृश कर जिससे कषाय कृश हो सकें व विषयों की तरफ से इंद्रियों की इच्छा हट सके। कषाय विषय बड़े ही दुर्जेय हैं। इनका जीतना सहज नहीं है। इनको वही जीत सकता है जो अपना सारा समय शास्त्राध्ययन में बिताता हो, तपश्चरण करता हो व शास्त्र मर्यादा का विचार करता हो। यदि कोई मिथ्या, अप्रसिद्ध तपों को करने भी लग जाय तो भी उससे अभिमान बढ़ जाता है, जिससे कि उल्टा पाप ही संचित होता है। यदि ऐसा हुआ तो तप व श्रुत दोनों व्यर्थ हैं। साधुओं ने तप व शास्त्र ज्ञान का सच्चा फल यही बताया है कि विषयों से वैराग्य हो और क्षोभ का उद्वेग घट जाये।

इसीलिए ज्ञानी योगी हमेशा बाह्य तत्व का विचार करके और होने वाले संकल्प विकल्प को हटा करके शुद्ध अविकल्प तत्व का अनुभव करता है। उसके अन्दर यह ज्ञान रहता है कि आत्मा हमेशा जैसी है वैसी ही दिखलाई देती है और हमेशा आनन्द को उत्पन्न करने वाली वस्तु उत्पन्न करती है। वह हमेशा सुखसागर में मग्न रहती है। कहा भी है कि–

जो खलु सुद्धो भावो सा अप्पणितं च दंसणं णाणं।
चरणंपि तं च भणियं सा सुद्ध चेयणा अहवा॥

जब अविकल्प भेद रहित सामान्य एकाकार अपनी आत्मा के स्वभाव में शुद्ध नय के द्वारा आत्मा के स्वरूप की भावना करते करते थिरता प्राप्त हो

जाती है तब उसे ही आत्मिक भाव या स्वानुभव कहते हैं इसी स्वानुभव के क्षण में ही साक्षात् निश्चय मोक्ष मार्ग है क्योंकि उस समय प्रतुर कर्मो का संवर है व बहुत कर्मों की निर्जरा है। मैं शुद्धात्मा हूँ, यही प्रतीति सम्यग्दर्शन है। मैं शुद्धात्मा हूँ, यही ज्ञान सम्यज्ञान है, मैं शुद्धात्मा हूँ इस भाव में थिरता सम्यक् चारित्र है। उसी स्वानुभव समय अपने शुद्ध ज्ञान का वेदन है इसलिए ज्ञान चेतना है, कर्म चेतना व कर्मफल चेतना नहीं है। न वहाँ रागद्वेषमयी कर्म करने का अनुभव है, न वहाँ सांसारिक सुख व दुःख का अनुभव है। इस स्वसंवेदन रूप स्वानुभव के भीतर अपनी ही आत्मा का उपयोग है। जिससे आत्मीय सुख का लाभ होता है। इष्टोपदेश में श्री पूज्यपादस्वामी कहते हैं:-

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥47॥
आनन्दो निर्दहत्युद्ध कर्मेन्धनमनारतं।
न चासौ खिद्यते योगी बहिःदुःखेध्वचेतनः ॥48॥

जो योगी व्यवहार से बाहर जाकर केवल अभेद एक रूप अपने आत्मा के स्वरूप में ठहर जाता है, उस योगी को स्वात्म ध्यान के बल से कोई अद्भुत परमानन्द प्राप्त होता है। यही आनन्द का अनुभव वीतरागमई ध्यान की अग्नि है, जो निरन्तर जलती हुई बहुत अधिक कर्मों के ईंधन को जलाती है। उस समय बाहरी परीक्षा या उपसर्ग भी पड़े तो वह ध्यान मग्न योगी अनुभव नहीं करता है तब उसे कोई क्लेश नहीं होता है अतएव अविकल्प स्वतत्व ही सार उपादेय है, प्राप्त करने योग्य है।

अज्ञानी बहिरात्मा जीव अन्तरंग में अन्तरात्मा की जान पहिचान न होने के कारण बाह्य वस्तुओं में ही अपने स्वरूप को देखना चाहता है-

अज्ञानी जीव रेत में से तेल निकालने की इच्छा करता है-

नोडिरे मल्लं पिळियल् कूडदु तां तैलमंते सम्यक्त्वदोळ।।
कूडद मुनिपन तपमदु कूडदु तां मुक्तिगें दनध्यात्म बिंदू ॥41॥

अर्थ—कितने आश्चर्य की बात है, देखो अज्ञानी बहिरात्मा जीव पास ही भरी हुई निधि होते हुए उसको न जान कर बाह्य वस्तु में ढूंढता फिरता है। आचार्य कहते हैं जैसे मूर्ख मनुष्य रेत को पेल कर तेल निकालने की इच्छा करता है तेल निकाल करके फेंकी हुई खली को पुनः-पुनः पेल कर तेल की इच्छा करता है परन्तु जिन्दगी भर उसको पेरते रहे तो भी तेल की एक बूंद उसको कभी प्राप्त नहीं हो सकती। इसी तरह सम्यक्त्व रहित योगी बाह्य विषय में परिरत हो करके अपने सुख और शान्ति को प्राप्त करना चाहता है। अशान्ति से कभी शान्ति प्राप्त हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं। इसलिए जब तक सम्यक्त्व सहित तप नहीं, विचार नहीं, आचार नहीं, ध्यान नहीं, क्रिया नहीं, तब तक उस जीव को अध्यात्म की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। ज्ञानी स्व पर का जानकार होकर शीघ्र की कर्म को क्षय करके विशुद्ध आत्म सुख की प्राप्ति करता है। अज्ञानी लाखों करोड़ों वर्ष बाह्य तप करके उसी पंचेन्द्रिय विषय को पुष्ट करने वाले और अन्त में पाप मार्ग में ले जाने वाले ऐसे क्षणिक इन्द्रिय विषय को पुनः-पुनः प्राप्त कर इसके निमित्त बार-बार इस संसार रूपी महान सागर में डूबते हुए अनेक प्रकार के दु:ख उठाता रहता है। इसलिए आत्म ज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है॥41॥

विवेचन—ग्रन्थकार ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि सम्यक्ज्ञान रहित तप संसार के लिये कारण होता है। सम्यग्ज्ञान जब तक म हो तब तक इन्द्रियों के द्वारा किये जाने वाले जितने भी भाव तप या कठिन कठिन क्रिया काण्ड हैं ये सभी संसार के लिये कारण बन जाते हैं। जैरो बकरी के गले मे अजागल स्तन को देखकर मूर्ख स्तन की भांति दूध निकालने की चेष्टा करता है इसी तरह अज्ञानी बहिरात्मा सांसारिक नि:सार क्षणिक वस्तु में सच्चा सुख देने वाले आत्मसुख की प्राप्ति करना चाहता है। इसलिए इनका प्रयास और पुरुषार्थ, तपश्चर्या आदि जितनी भी तपश्चर्या की साधन वस्तु है वे सभी आत्म सुख के लिए निमित्त कारण नहीं होती हैं। बहुत से योगी अपने आत्म सुख के साधन को प्राप्त करते हुए भी जब तक सम्यग्ज्ञान सहित मोक्ष प्राप्ति के मार्ग को प्राप्त नहीं करते तब तक उनके द्वारा किया हुआ सारा बाह्य तप

आदि सामग्री व्यर्थ हो जाती है। इसलिए योगी ! सम्यग्ज्ञान सहित तप का अनुष्ठान करके शुद्धात्म निज स्वभाव की प्राप्ति का उपाय करो अर्थात् भावलिंगी बन। बिना भाव के केवल द्रव्य से कर्म की निर्जरा नहीं हो सकती है। द्रव्य और भाव जब दोनों होंगे तब कर्म की निर्जरा हो सकती है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड़ में कहा भी है कि–

पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भिंतरभावदोसपरिसुद्धो।
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगम्मि मयलियई॥70॥

हे आत्मन् ! तू आभ्यन्तर भावों के दोष से निकल कर अत्यन्त शुद्ध ऐसा भगवान जिनेश्वर का लिंग धारण कर तब उसके साथ-साथ भाव भी शुद्ध कर। भाव शुद्धि के बिना द्रव्य लिंग बिगड़ जायेगा। जो आत्म भाव से मलिन है वह परिग्रह से भी मलिन होता है।

इस ग्रन्थकार ने कहा है कि भाव रहित नग्न योगी इष्ट स्थान को प्राप्त नहीं करता।

धम्मम्मि णिप्पवासो दोसावासो य इच्छु फुल्लुसमो।
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णग्गरूवेण॥

धर्म का अर्थ वस्तु का स्वभाव है अर्थात् अपना स्वभाव है। दश लक्षण स्वरूप जो दश प्रकार का धर्म है उसमें जिसका वास नहीं है वह जीव दोष भागी कहलाता है। जिसमें दोष है वह इक्षु के फूल के समान है। उसमें किसी प्रकार का फल नहीं है, गन्ध नहीं है, गुण नहीं है, इसी प्रकार केवल द्रव्यलिंग भाव लिंग से रहित होने के कारण निस्सार समझा जाता है अर्थात् जिसके धर्म में वासना नहीं है और जो क्रोधादि कषाय दोष से मलिन है वह योगी इछु (गन्ने) के फूल के समान निर्गुण तथा निःफल है। ऐसे मुनि को मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। सम्यग्ज्ञान आदि गुण जिसमें नहीं हैं तब उसकी नग्न अवस्था भाण्ड का स्वांग दिखाई देती है। इसलिए जैसे भाण्ड नीचे इस प्रकार श्रृङ्गार आदि सहित अनेक बाह्य तप करके अपना ही लोक और परलोक बिगाड़ लेता है। इसलिए सम्यक्त्व सहित ततश्चर्या हमेशा कर्म

क्षेत्र की निर्जरा का कारण होती है। इसलिए हे योगी! तू बाह्याभ्यन्तर तप के साथ आत्मा को निर्मल बनाने के लिए हमेशा प्रयत्न कर। यही आशय है। बहुत से लोग बिना सम्यग्ज्ञान अनेक प्रकार का क्रिया काण्ड करते हुए अपने को सम्यक्त्वी घोषित करके और गृहस्थावस्था में क्रिया काण्ड का बिल्कुल लोप करके एकान्त वादी बन जाते हैं। सचमुच में उनका क्रिया काण्ड और उनकी एकान्त भावना ऐसी है मानों वे आकाश में फूल को तोड़ना चाहते हैं और बालू में से तेल निकालने की चेष्टा करते हैं। ऐसा समझना चाहिए।

हे योगी! शुद्ध भाव स्वर्ग और मोक्ष का कारण है और मलिन भाव संसार का कारण है। कहा भी है कि–

भावो वि दिव्वसिवसुक्ख भायणो भाववज्जिओ सवणो।
कम्ममललिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो॥

भाव वही है जो मोक्ष के लिए कारण है जो भाव रहित है वह पाप स्वरूप है और तिर्यंच गति के स्थान को प्राप्त कराने वाला है ऐसे व्यक्ति का चित्त हमेशा कर्म मल से मलिन है। इसलिए उनको मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

विशुद्ध भाव के महत्व को कहते हैं–

भगवान जिनेन्द्र देव ने तीन प्रकार का भाल कहा है–शुभ, अशुभ तथा शुद्ध। उसमें अशुभ जो है आर्त-रौद्र ध्यान है और शुभ जो है वह धर्म ध्यान है शुद्ध भाव जो है अपना शुद्ध स्वभाव आप में है ऐसा जानना चाहिए। जिनको कल्याण करना है वह शुद्ध भाव की हमेशा भावना करे। इसलिए योगी के लिए सम्बोधन देकर कहते हैं कि हे योगी! हे मुनीश्वर! हे मुनिश्रेष्ठ! तू बारह प्रकार के तप का आचरण कर। तेरह प्रकार की क्रिया मन वचन काय से कर और ज्ञान रूप अंकुश से मन रूपी हाथी को वश में कर। भावार्थ यह है कि यह मन रूपी हाथी मदोन्मत्त है इसलिए उसको तपश्चरण क्रिया सहित ज्ञान रूपी अंकुश के वश में करो। जब तक ज्ञान रूपी अंकुश उसको न लगेगा तब तक वह वश में नहीं होगा। ऐसे श्रीगुरु का उपदेश है। जो

तपश्चरण क्रियादिक सहित ज्ञान रूप अंकुश से वश में करता है और इधर-उधर हिलने नहीं देता है वह उसको स्थिर करने के लिए हमेशा बारह प्रकार के तप का अनुसरण करता है। अनशन, अवमोदर्य, विप्रसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन, काय क्लेश ये छ: प्रकार के बाह्य तप हैं। पुन: प्रायश्चियत, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह आभ्यनतर तप हैं। इनका स्वरूप तत्वार्थ सूत्र में कहा है, इनका मनन करना चाहिए। इसके साथ-साथ तेरह प्रकार की क्रिया हैं। ये सभी भाव शुद्ध करने के निमित्त कारण हैं। इसलिए हे योगी! इस कारण को लेकर आत्मा का श्रद्धान कर और इसी श्रद्धान के साधन से या प्रयत्न से तू मोक्ष की प्राप्ति करेगा। क्योंकि आत्मा का धर्म ही मोक्ष है। इसलिए हे भव्य जीव! तू आत्मा को प्रयत्न से सर्व प्रकार उद्यम करके यथार्थ जान। पुन: उस आत्मा के प्रति श्रद्धान रख। प्रेम रख। मन वचन काय से आचरण कर। इसके द्वारा तुझे मोक्ष की प्राप्ति शीघ्र होगी।

भाव अशुद्ध रहने के कारण इस आत्मा को हमेशा संसार में परिभ्रमण करना पड़ा। उदाहरणार्थ भाव हिंसा और अशुद्ध भाव के कारण तन्दुल मत्स्य सातवें नरक में चला गया यह कथा बहुत प्रसिद्ध है। तन्दुलमत्स्य जैसा छोटा जीव भी भाव हिंसा के कारण सातवें नरक में चला गया। फिर आचार्य कहते हैं कि बड़ा जीव हिंसा के निमित्त से नरक जायें इसमें कौन से आश्चर्य की बात है। इसलिए यहाँ भाव की शुद्धि का उपदेश है। जब तक भाव शुद्ध न होगा तब तक स्व पर का स्वरूप नहीं जान सकता है और अपना और पर के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता है।

तन्दुलमत्स्य की कथा इस प्रकार है। काकन्दीपुर का राजा सूरसेन था वह मांस भक्षी था। वह रसोइये के द्वारा अनेक जीवों का मांस निरन्तर भक्षण करता था। एक दिन रात को रसोइया को सर्प ने काटा वह मर कर स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य हुआ और राजा सूरसेन भी मर करके उस महामच्छ के कान में तन्दुलमत्स्य हुआ। वहाँ महामच्छ के मुख के अनेक प्रकार के जीव आते जाते थे। तब तन्दुलमत्स्य ने उसको देख करके मन मे

विचार किया—यह तो बहुत ही भाग्यहीन है क्योंकि यह अपने सुख में बिना प्रयत्न के आये हुए जीवों का भक्षण नहीं करता है। अगर मेरा शरीर इतना बड़ा होता तो मैं इस समुद्र के सब जीवों को खा जाता। ऐसी भावना करके वह जीव सातवें नरक में चला गया और महामत्स्य जो हमेशा जीव भक्षण करने वाला था वह नरक तो जाता ही है इसलिए अशुद्ध भाव सहित जाप करना नरक का ही कारण है। इसलिए भाव में जो अशुद्ध ध्यान है वह छोड़ करके शुद्ध ध्यान करना योग्य है। सारांश यह है कि पहले राजा ने राज्य पद पाया, वह पूर्व पुण्य का फल था। पुनः कुभाव होने के कारण नरक जाना पड़ा। इसलिए आचार्य ने सम्यग्दर्शन सहित भाव शुद्धि का उपदेश दिया है।

तन्नं तां तन्निंद तन्नत्तणिनरिदु लाने तन्नयरूपं।
तन्नोळ्ळवडिसि भाविसे तन्न सुखं ताने तनगे तन्निनंदक्कुं॥42॥

अर्थ—आप अपने को, अपने द्वारा, अपने लिए, अपने रूप को, आप ही जान कर, अपने में लीन होकर, भावना करने से अपना सुख अपने को अपने द्वारा ही प्राप्त होता है। वह सुखपर पदार्थ में नहीं है। वह सुख अपनी आत्मा के अन्दर ही है और वहीं आत्मा का गुण है। ऐसी भावना करने से वह अपने अन्दर ही अभिव्यक्त होता है ऐसा समझना चाहिए।

विवचेन—ग्रंथकार ने इस श्लोक में यह बताया है कि योगी जिस निजरूप आत्म सुख को ढूंढ रहा है वह सुख अपने अन्दर ही मौजूद है। तू मूढ़ बनकर बाह्य पर पदार्थ में क्यों ढूंढता है? उसे अपने अन्दर ही ढूंढना चाहिये और वह अपने अन्दर ही मिलेगा। वह अन्य स्थान में नहीं है और दूसरों के द्वारा प्राप्त भी नहीं होगा। वह सुख अपने अन्दर है और वह अपने द्वारा ही मिलेगा।

हे योगी! सबसे पहले खोटे इंद्रिय जन्य विषय भोगादि पर पदार्थ का ध्यान छोड़कर, एकाग्रतापूर्वक अपने अन्दर ही आपको देख। बाहरी चिन्ता को रोक और निश्चिन्त होकर अपने मन की समस्त चिन्ताओं को छोड़कर परम पद का ध्यान कर और निरंजन देव को देख।

हे हंस! देखे, सुने और भोगे हुए भोगों की वांछारूप खोटे ध्यान आदि सब चिन्ताओं को छोड़कर निश्चिन्त होकर अपने चित्त को परमात्म स्वरूप में स्थिर कर। उसके बाद भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नो कर्म रूप अंजन से रहित जो निरंजन देव परम वीतराग आराधने योग्य अपनी शुद्धात्मा है उसका ध्यान कर।

हे योगी! तू शीघ्र ही अपनी शुद्धता को अपने अन्दर देखना चाहे तो मन वचन, काय रूप त्रिकरणशुद्धिपूर्वक अपध्यान को छोड़। यह अपध्यान महा पाप मय दुर्गति के लिए कारण है। इसलिए इसको शीघ्र छोड़ कर शुद्ध भाव धारण करो। अपध्यान कौन सा है उसकी विवेचना इस प्रकार है।

निर्मल बुद्धि वाले पुरुष जिन शासन में उसको अपध्यान कहते हैं, जो द्वेष से पर के मारने का अथवा छेदन का चिन्तवन करें, और रागभाव से पर स्त्री आदि का चिन्तवन करें। उस ध्यान के दो भेद हैं। एक आर्त दूसरा रौद्र। वे दोनों ही नरक निगोद के कारण हैं। इसलिए विवेकियों को वे त्यागने योग्य हैं।

हे योगी! इन विषयों को त्यागे बिना तू अपनी आत्मा का अनुभव अपने अन्दर नहीं कर सकता। जैसे बादल के अन्दर छिपा हुआ सूरज का प्रकाश प्रगट नहीं होता है, उसी तरह रागद्वेषादि कषाय रूप से मिश्रित जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि आठों कर्मों के बादल से यह आत्मा पूर्ण रूप से आच्छादित होने से उसी कर्म के अनुसार आप भी परिणमनशील बन गया है। इसलिए वह आत्मा अनंतज्ञान गुण का भण्डार होते हुए भी उस आवरण के कारण, अपने आपको भूल बैठा।

हे योगी! इस तरह आत्मा को सेवन कर। तेरी आत्मा ही शिवरूप है। यह शिवरूप आत्मा अपने अन्दर ही है ऐसा समझकर पर को हटा और स्वभाव में रत हो जा।

शिव नाम कल्याण का है। अत: कल्याणरूपी ज्ञान स्वभाव निज शुद्धात्मा को जानो उसके तो दर्शन अनुभव से सुख होता है। वैसा सुख परमात्मा को छोड़ कर तीन लोक में भी नहीं है।

वह सुख क्या है? वह सुख निर्विकल्प वीतराग परमात्म रूप शुद्धात्म भाव है। जो उसको पाता है। वह सुखी है। वह सुख कैसे प्राप्त होता हैं वह सुख तीन गुप्ति रूप परम समाधि में आरूढ़ हुआ ध्यानी पुरुष पाता है। अनन्त गुण रूप आत्म तत्व के बिना वह सुख स्वर्ग लोक के स्वामी इन्द्रादिक को भी नहीं हैं। सारांश यह है कि शिवनाम वाली जो शुद्धात्मा है, वही रागद्वेष मोह को त्याग कर ही आकुलता विहीन परम सुख को देती है। सांसारिक जीवों के तो इन्द्रिय जनित सुख हैं वे ही आकुलता रूप है। कहा भी है कि–

आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमाहि न तातैं शिवमग लाग्यो चहिए॥
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण शिवमग, सो दुविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो व्यवहारो॥

जीव के लिए कल्याण सुख है वह सुख आकुलता रहित है जन्म आदि का संक्लेश-दु:ख मोक्ष में नहीं है। इसलिए मोक्ष के मार्ग में लगना चाहिए। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता, मोक्ष का मार्ग है। एकमात्र सम्यग्दर्शन से अथवा सिर्फ ज्ञान या चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। जैसे औषधि पर विश्वास रखना, उस औषधि के अनुपान आदि का ज्ञान करना और विधि अनुसार सेवन करना ये तीनों क्रियायें जब तक नहीं की जातीं तब तक रोगी नीरोग नहीं हो सकता। वह मार्ग दो प्रकार का समझना चाहिए। पहला सत्यार्थरूप और दूसरा कारण। मुक्ति मार्ग यथार्थ स्वरूप है, परमार्थ मोक्ष मार्ग है और जो निश्चयनय का कारण है जिस से निश्चयनय की प्राप्ति होती है वह व्यवहार असत्यार्थ मोक्ष मार्ग है।

सांसारिक जीवों को जो इन्द्रिय जनित सुख है वह आकुलता रूप है और आत्मिक सुख आकुलता रहित है। वह सुख ध्यान से ही मिलता है। उसे

दूसरा कोई शिव या ब्रह्मा या विष्णु नाम का पुरुष देने वाला नहीं है। आत्मा का नाम शिव है, विष्णु है, ब्रह्मा है और दूसरा कोई नहीं है। यह सुख बाह्य और अन्त रंग से रहित, आत्मा की भावना से उत्पन्न हुआ है जो वीतराग है उसमें जो महामुनि सुख पाता है उस सुख को इन्द्रादिक भी नहीं पाते हैं। जगत में सुख की सामग्री और अन्य कोई नहीं है। महा मोह रूपी अग्नि से जलते हुए इस जगत में देव, मनुष्य, तिर्यञ्च नारकी सभी दु:खी है और जिनका तन ही ध्यान है, सब विषयों का सम्बन्ध जिन्होंने छोड़ दिया है ऐसे साधु-मुनि ही इस जगत में सुखी हैं। ऐसा समझकर हे योगी! यदि सुख और शिव रूप ऐसे आत्मानन्द सुख सागर में मग्न होना चाहता है तो सम्पूर्ण पर पदार्थ को दूर करके अपनी आत्मा के अन्दर ही रमण कर।

परभाव हटाकर स्वभाव में आओ।

परभावं शरनिधियोळ् तेरेमालेगळते बर्कुमो भावनेयं।
बरलीयदे शुद्धात्मनं परभाविसे से योगि मुक्ति पदमांपेडवै ॥43॥

अर्थ—समुद्र में तरंग उठने के समान हृदय में जो पर भाव उत्पन्न होता है, हे योगी! उस भावना को जो आगे आने नहीं देते, शुद्धात्मा, परिशुद्ध मन, वचन, काय से जो परिपूर्ण है वे शीघ्र ही मोक्ष स्थान को प्राप्त करेंगे।

विवेचन—आचार्य ने इस श्लोक में यह बतलाया है कि आत्मा के अन्दर पर परिणति के द्वारा आने वाले जो अशुद्ध कर्म परमाणु प्रवेश करके आत्मा के स्वभाव को चलायमान करता है उसको दूर करने के लिए निरन्तर शुभ भावना के द्वारा उसे रोक कर अपनी आत्मा को स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब तक यह आत्मा पर द्रव्य से सम्बन्धित रहती है तब तक यह पर वस्तु के अनुसार परिणमन करती रहती है। उसी से रागद्वेष, मोहादि के कारण अनेक प्रकार के बाह्य कषाय प्रवेश कर आत्मा को चलायमान करते हैं। आत्माको चलायमान करने वाले मिथ्यात्व अविरत प्रमाद कषाय और योग ये निमित्त कारण हैं। ये ही आत्मा को चलायमान करने के कारण हैं। इसी निमित्त से आत्मा पर द्रव्य के साथ परिणमन करती है।